सौजन्य-संविभाग

सुश्री खुशवु सेठिया के अठाई-तप पर

श्री ताराचंद रतनलाल सेठिया,

गंगाशहर/कोलकाता

उड़िये पंख पसार











श्री चन्द्रप्रभ

सन्निधि :

गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी

सम्पादन :

सुश्री तृप्ति बोहरा

प्रकाशन-वर्ष : अक्टूबर, 2001

प्रकाशन : जितयशा फाउंडेशन, 9-सी, एस्प्लानेड ईस्ट, कोलकाता-700 069

कम्पोजिंग : जांगिड़ कम्प्युटर्स, जोधपुर / मुद्रक : जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

मूल्य : 30/-

प्रवेश

जब तक व्यक्ति को लगता है कि उसके प्रयोजन की सिद्धि स्त्री, पुत्र, धन या स्नेहीजनों से सम्भव है, तब तक वह उनके पीछे गतिशील रहता है, लेकिन जब कोई मुमुक्षु आत्मसम्मुख होकर यह जान ही लेता है कि उसकी अभीष्ट सिद्धि मात्र उसी के ही अधीन है, तो आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थों के प्रति आसक्त-बुद्धि और यह गतानुगतिकता स्वत. ही सहजता से समाप्त हो जाती है और यहीं से प्रारम्भ होती है आत्म-बोध और आध्यात्मिक मूल्यों की विकास-यात्रा।

अध्यात्म की इस यात्रा को चेतना की सहज-सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचाने के लिए तीन अमृतोपम मन्त्र हैं—सरलता, सहजता और सजगता। जीवन का हर कार्य, हर व्यवहार और हर भाव सरलता से परिपूर्ण हो। न केवल दूसरों के द्वारा की गई अच्छी-बुरी टिप्पणी में वरन् मन में उठने वाले हर अच्छे-बुरे विचारों में भी सहजता बरकरार रहे और अन्तिम, लेकिन दोनों सूत्रों का प्राण-तत्त्व सजगता है, जिसका दीप अप्रमत्तता से आठों याम हमारी हर वृत्ति और प्रवृत्ति का हमें ज्ञान कराता रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ सार रूप में इन तीन महान आत्मोपयोगी मंत्रों को अपने में समेटे हुए है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को जीवन में चरितार्थ करना ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रेरक तत्त्व है। अनुभव-सिद्ध और दिव्य चेतना के धनी पूज्य श्री चन्द्रप्रभ जी

की विशिष्टता कहें या जन सामान्य के प्रति करुणा और अनुग्रह-दृष्टि कि उन्होने जीवन-दर्शन और धर्म-दर्शन को इस तरह परिभाषित किया है कि मानो पानी के प्यासे को पीने के लिए अमृत मिल गया हो, पथहारों को विश्राम के लिए वटवृक्ष हाथ लग गया हो। कायोत्सर्ग, लेश्यामंडल, गुणस्थान और अनुप्रेक्षा-विपश्यना जैसे गंभीर और गूढ़ विषयों को भी पूज्यश्री ने इतने सरल, सुबोध और हृदयग्राही भाषा में प्रस्तुत किया है कि अंधेरी गुफा में सूरज की किरण उतर आई है। निश्चित रूप से उनकी यह महान लोककल्याणकारी दृष्टि वन्दनीय है।

यह पुस्तक आपको धरती से उठाकर आकाश में रहे किसी स्वर्ग में ले जाने का वादा नहीं करती, किन्तु यदि इसे आत्म-विकास और आत्मश्रेय के लक्ष्य के साथ पढ़ा जाए, मनन और अनुसरण का प्रयास किया जाए, तो धरती पर रहकर ही अपने अन्दर आकाश की विराटता, निर्लिप्तता, रिक्तता, निर्विकारता और स्वर्ग से भी बढ़कर सुख और शांति कैसे अनुभव की जाए, इस प्रश्न का निःसन्देह सर्वोत्तम समाधान है। लक्ष्य के साथ बढ़ाया गया मात्र एक कदम ही, हमें एक दिन मंजिल तक पहुँचा देता है।

बहुत हो चुकी कल्पना के आकाश में मन के पंछी की अन्तहीन यात्रा, जिसका प्रारम्भ होता है सुख की मधुर इच्छा से और अन्त होता है दुःख के साथ फिर किसी नई इच्छा की अन्तहीन यात्रा से। आइए, इन पंखों के जर्जर हो बिखर जाने से पहले हम एक प्रेमपूरित मधुर आमंत्रण स्वीकार करें और अपने पंखों को पसार एक उड़ान भरें मुक्ति के आकाश में।

-तृप्ति

प्रवचन-क्रम

प्रवचन :

जनकपुरी, अजमेर (राज.)

अगस्त, 2000

जीवन का लक्ष्य

मनुष्य के सारे प्रयत्न और पुरुषार्थ सुख की उपलब्धि और स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए होते हैं। मनुष्य चाहे अर्थ का पुरुषार्थ करे या काम का, उसका परिणाम वह केवल सुख और स्वतत्रता में चाहता है। अर्थ के पुरुषार्थ सुख के साथ दु.ख की परछाई भी लाते हैं और काम के पुरुषार्थ स्वतत्रता की आड़ मे परतत्रता के शिकार हो जाते हैं।

उस सुख को सुख कैसे कहें जो दुख की बैसाखियों पर खड़ा हो। वह स्वतंत्रता कैसी स्वतंत्रता है जो अंततः परतत्रता मे परिणित हो जाती हो। मनुष्य अर्थोपार्जन करता है कि अर्थ के द्वारा जीवन के अन्य सार्थक सुख उपलब्ध हो सकें, लेकिन क्या सचमुच ऐसा हो पाता है? आपने देखा होगा अर्थ की आकाक्षा में दौड़ते हुए अमीरों को, जिन्हें कैसे चिकित्सको के नियत्रण मे रहना पड़ता है। सुख के नाम पर रातो की नींद उड़ जाती है। मन और मस्तिष्क सत्रास, तनाव और घुटन से भरा रहता है। अगर वाकई अर्थ का पुरुषार्थ अतिम दौर मे सुख ही दे पाता तो हमे कितना धन मिलेगा। बुद्ध तो राजकुमार रहे, महावीर भी राजपुत्र रहे, लेकिन हम जानते हैं, अर्थ ने उन्हे कोई सुख नहीं दिया। और जो सुख अर्थ ने दिए, वे सब व्यर्थ हो गए ? और वे वास्तविक सुख की खोज मे चले गए। अगर अर्थ ही उन्हें सुख देता होता, तो वे भी सिकदर की तरह विश्व-विजेता बन कर अपार धन-संपत्ति अपने अधीन कर लेते।

मनुष्य के जीवन मे धर्म के पुरुषार्थ का उदय ही तब होता है जब उसे अर्थ की व्यर्थता महसूस होती है। जिन क्षणो मे उसे अर्थ की निरर्थकता का बोध होता है, तब एक नवीन अर्थ, एक नूतन दिशा और एक नव सोपान उपलब्ध हो जाता है। अगर कोई धन-संपत्ति, पद-प्रतिष्ठा को ही सुख का मापदंड समझ रहा है तो इसीलिए कि अभी वास्तविक आनन्द की कोई किरण उसके जीवन मे प्रविष्ट नहीं हो पाई है। वह उन्हीं को सुखों के साधन समझता रहता है। जो व्यक्ति अपने जीवन को मात्र धनोपार्जन के लिए लगा देता है, वह धन की दृष्टि से धनवान हो जाता है, किन्तु शेष दृष्टि से कंगाल रह जाता है। उसके जीवन से परमात्मा निकल जाता है। धन के लिए जीने वाला व्यक्ति आत्मा से रहित हो जाता है। संसार चलाने के लिए आवश्यकतानुसार धनोपार्जन उचित है, लेकिन संग्रह की प्रवृत्ति खतरनाक हद तक बढ़ जाती है। अमीर व्यक्ति अपनी तिजोरी खोलता है और अपने धन का अवलोकन करता है तो मैं कहूँगा कि बैंक का कैशियर भी तो यही काम करता है, पर वह जानता है कि यह धन मेरा नहीं है। उस धन के प्रति वह निरपेक्ष रहता है। वह धन के पास रहते हुए भी धन से निर्लिप्त होता है। यह तो तुम भी जानते हो कि जितना धन एकत्रित किया है उसका उपभोग नहीं कर पाओगे फिर भी तुम निरपेक्ष नहीं रह पाते। तुम्हारा तो धन के साथ ममत्व है, तादात्म्य है, रागात्मक अनुबंध है।

मैने अर्थ को व्यर्थ होते देखा है। धन के शिखर पर विराजित लोगो को धूल-धूसरित होते भी देखा है। कहा जाता है कि सिंकदर विश्व-विजय के बाद अपनी माँ से मिलना चाहता था कि बीमार हो गया। चिकित्सकों ने भी जवाब दे दिया। आखिर सिकंदर ने डॉक्टरो से प्रार्थना की कि उसे इतना स्वस्थ कर दिया जाए कि चौबीस घंटे दिन-रात घुड़सवारी कर वह अपनी माँ के पास पहुँच सके। इसके बदले मे वह अपने वजन के बराबर स्वर्ण देने को तत्पर था। लेकिन वह मूर्ख यह नहीं जानता था कि सोने के बदले मे जीवन नहीं खरीदा जा सकता। स्वर्ण तो केवल संपत्ति है। इसके बदले जीवन नहीं मिल सकता। डॉक्टरों ने कहा—'यह संभव नहीं है। तुम्हारे वजन के बराबर स्वर्ण मिल जाने पर भी जीवन मे वृद्धि नहीं हो सकती।' तब सिंकदर ने आधा साम्राज्य देने की पेशकश की कि बारह घंटे का जीवन ही मिल जाए। तव डॉक्टरो ने बताया कि तुम शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होगे और तुम्हें इस बात का अहसास होगा कि विश्व के सारे साम्राज्य से बढ़कर

है अपने ही जीवन का मूल्य। तव सिकदर ने अपनी आत्मकथा मे लिखवाया कि विश्व-विजेता सिकदर अपनी अकूत सपत्ति से जीवन के कुछ पल भी न खरीद सका। वह विल्कुल खाली जा रहा है। हाथ पसारे !

जिस अर्थ की व्यर्थता का वोध मृत्यु के क्षणों में हुआ काश ! अगर वह पहले हो जाता तो सिकदर विश्व-विजेता नहीं आत्म-विजेता वन जाता। तब वह मौत से हारता नहीं, अपितु मृत्युजय होकर मुक्त आकाश का स्वामी हो जाता।

अर्थ की आवश्यकता भी है और सार्थकता भी, लेकिन जितनी सार्थकता है उतनी ही व्यर्थता भी है। अर्थ जितने सुख देता है उतने ही दु ख भी देता है। लोग भूल जाते है कि जिस वृक्ष से उन्हे छाया और शीतलता मिलती है, वह धूप के कारण ही पल्लवित और पोषित होता है। मनुष्य कौनसा सुख चाहता है? महावीर ने कहा था इन्सान को अगर कैलाश-पर्वत जितना सोना या चादी भी दे दिया जाए, तव भी मनुष्य के मन को तृप्त नहीं किया जा सकता। यह जरूर हो सकता है कि अधिक धन से तुम गलत रास्तो की यात्रा करने लग जाओ। इसलिए इतना ही कमाओ कि तुम्हारी नैतिकता सुरक्षित रह सके, जीवन-सचालन की व्यवस्था हो सके। जीवन में आपदा-विपदा की पीड़ा आने पर बे-ईमानी पीड़ा का बोझ न वन जाए। वही धन उपादेय है जो प्रायश्चित का मौका न दे। तुम्हारी आवश्यकता और कर्त्तव्यों की पूर्ति हो जाए, इतना धन ही पर्याप्त है।

मैं वचपन मे एक कहानी सुना करता था। एक किसान चार आने प्रतिदिन कमाता था। एक आना माता-पिता के लिए लगाता, एक आने से अपने बच्चो का पालन-पोषण करता, एक आना अपनी पत्नी और स्वय पर खर्च करता और एक आना दरिया में डाल देता अर्थात् एक आना परोपकार मे व्यय करता। अगर धन की ऐसी कोई व्यवस्था हो जाती है तो धन न हमारे लिए घुटन और तनाव का कारण बनेगा और न ही जीवन मे अर्थ संत्रास का हेतु बनेगा। धन कमाओ, पर केवल कमाने के लिए नहीं वरन् उपयोग करने के लिए। स्वय के लिए कमाई उपयोग करो, पर व्यर्थ के संग्रह में मत जाओ। आवश्यकता से अधिक जो धन आया है, उसे उलीच दो। तुम्हें जरूरत थी तुमने तालाब से पानी निकाला, ज्यादा आ गया, तो वापस तालाब का पानी तालाब में ! लेकिन न जाने कौन-सी मूर्च्छा है, जिसके चलते मनुष्य का धन से तादात्म्य घटता ही नहीं है। मृत्यु द्वार पर खडी हो तव भी वह धन की चिता मे ही लीन रहता है।

मैने सुना है : एक धनपति मरने के बिलकुल करीब था। लगभग अचेतावस्था मे पड़ा हुआ था। कभी-कभी चेतना लौट आती थी। जब-जब होश आता, वह पत्नी से पूछ लेता था कि बड़ा पुत्र कहॉ है या मॅझला बेटा कहॉ है? तब पत्नी बता देती कि सब यहीं हैं, आप ही के पास हैं। वह फिर अचेत हो जाता। सभी पुत्र शैय्या के आप-पास ही खड़े हुए थे, तभी धनपति को हिचकी आई। उसने पुनः पत्नी से पूछा कि अपने बच्चे कहाँ है? पत्नी ने कहा, आप धैर्य रखिए, सभी यहीं हैं। देखो सब आपके आसपास खड़े है। बड़ा इधर, मंझला उधर, छुटका सिरहाने, सभी तो यहीं हैं, आप चिंता न करें। 'चिता न करूँ ? अरे चिंता कैसे न करूँ जब सभी यहीं है तो दुकान कौन चला रहा है ?'

तुम मरने को चले हो, और चिन्ता लिये बैठे हो दुकान-मकान-परिवार की, धन की। कहा जाता है कि पहले राजा-महाराजाओ के प्राण किसी तोते या अन्य पक्षी मे रहा करते थे कि गर्दन मरोड़ो और....। आज मनुष्य के प्राण धन मे अटक गए है। तोते का रूप बदल गया है, वह तिजोरी मे परिणित हो गया है। कल एक महानुभव बता रहे थे कि उन्हे पांच लाख का घाटा लग गया। शायद उन्हें स्मरण होगा कि उन्होने कुछ समय पहले कहा था कि अगर थोड़ा मुनाफा और हो जाए तो वानप्रस्थ ग्रहण कर लेगे और अब घाटा हो गया। लेकिन योगानुयोग एक वर्ष में पचास लाख का फिर लाभ हो गया। और आज देखता हूॅ तो उन पर करुणा आती है कि उनकी स्वतंत्रता और चैन दोनो खो गये है। वे तनाव और ऊहापोह से भर गए हैं। उनके पास चालीस है इसका संतोष नहीं है बल्कि जो पाँच चले गए है, उसका बहुत संताप और संत्रास है।

मनुष्य अर्थ और काम में उलझ गया है। फ्रायड का मानना है कि मनुष्य के जीवन का एकमात्र प्रेरक तत्त्व काम ही है। परिवार है, पत्नी है, बच्चे है, रिश्ता है, सबंध है, मूर्च्छा है, ममत्व है, इन सबके पीछे वह मूल तत्त्व कौन-सा है जिसके कारण इन सबकी सरचना होती है। और वह मूल कारण है मनुष्य के काम का पुरुषार्थ। पत्नी से रागात्मक संबंधों का प्रतिफलन बच्चो के रूप मे होता है इसलिए हमें अपने बच्चे अत्यंत प्रिय होते हैं। भाई के लिए हम वह नहीं कर पाते जो बच्चो के लिए कर गुजरते है, क्योकि भाई हमारे काम के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं है। जीवन में काम की धारा सतत बहती रहती है। इसीलिए विपरीत लिंग सदा आकर्षित होते है। पिता का पुत्री पर और माता का पुत्र पर अधिक स्नेह

होता है। मनुष्य के जीवन मे काम और अर्थ के अतिरिक्त बचा ही क्या है। धर्म तो अर्थ और काम को उपलब्ध करने का दरवाजा है। वह मदिरों में जाकर प्रार्थना कर रहा है कि अर्थ और काम के पुरुषार्थ सुचारु रूप से, व्यवस्थित ढग से चलते रहें। धर्म और नैतिकता से किसी को क्या लेना-देना ?

कभी ईमानदारी नीति हुआ करती थी। तब मनुष्य के पुरुषार्थ ईमानदारी से पूरे हो जाते थे। आज ईमानदारी बेमानी लगती है। वह सोचता है, 'ईमानदार रहा तो भूखे मर जाऊँगा।' मनुष्य को ईमानदारी और बेईमानी से मतलब नहीं है। उसे तो आकांक्षाएँ पूर्ण करने से मतलव है। वह तो केवल इतना जानता है कि जो उसने पाने का सोचा है, किसी भी तरीके से उसे हासिल करना है। बेईमानी से पैसा मिलता है तो वेइमानी व्यवसाय की नीति वन गई। ईमान से कमाई होती हो, तो ईमानदारी नीति है। मनुष्य को नीति से नहीं, अर्जन से मतलब है। कभी-कभी तो ऐसा भी हो जाता है कि जिस-तिस तरह से किया गया अर्जन छाती का बोझ वन जाता है और वह अपने ही दुष्कर्मों के रूप मे दिखाई देने लगता है। इसलिए अपने कर्मयोग, अर्थयोग और कामयोग को इतना संतुलित, नियमित, नियन्त्रित और परिमित रखो कि वह वह हमारे लिए संताप और सन्त्रास न बन जाए।

जव जीवन में वोध उपलब्ध होता है तव ही धर्म और मोक्ष के पुरुषार्थ घटित होते हैं। इसके पहले तो अर्थ और काम ही लक्ष्य बने रहते हैं। जीवन का लक्ष्य क्या हो, यह वहुत ही वारीक मामला है, लेकिन लक्ष्य के बारे में बातचीत कर लेने से लक्ष्य न वनता है और न ही हासिल होता है। लक्ष्य के बारे मे पढ़ लेने से या किसी दूसरे से समझ लेने भर से लक्ष्य निर्मित नहीं होता। आपने मुझे सुना और एक लक्ष्य बनाया। उसकी ओर बढ़ भी चले हो, लेकिन यह मेरा दिया हुआ लक्ष्य हुआ, आपके अपने अन्दर से अंकुरित नहीं हुआ। परिणामतः जब भी फिसलन भरे रास्ते आएँगे, लक्ष्य किनारे हो जाएगा और स्वर्गिक ऊँचाइयो को पाने के बदले नरक के ढलान पर गिर जाओगे। उन्नत लक्ष्य की बाते और चर्चा तो अच्छी लगती हैं, लेकिन क्या हम उसे मूर्त रूप दे पाते हैं। लक्ष्य जो भी हो, बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए। इतना स्पष्ट कि उसके लिए अपना जीवन कुर्बान कर सकें। फिसलन के रास्तों पर भले ही फिसल जाएँ, तब भी हमारी ऑखों से लक्ष्य ओझल नहीं होना चाहिए।

एक अत्यंत प्रेरक घटना है। किसी नरेश ने भगवान से प्रार्थना की कि मै आपका शिष्य बनना चाहता हूँ, मुझे संन्यास दे। भगवान ने कहा, 'फिर कभी ले लेना।' उसने कहा, 'नहीं भगवान्, मै प्रतिदिन आपका उद्‌बोधन सुन रहा हूँ, आपका प्रवचन सुन रहा हूँ, संसार से विरक्ति आ रही है, अब तो संन्यास ही चाहिए।' भगवान ने कहा, 'बस थोड़े दिन और प्रतीक्षा कर लो।' लेकिन नरेश तो अपनी बात पर अड़ ही गया कि उसे संन्यास चाहिए। भगवान ने कहा, 'अगर ऐसा ही है तो तू संन्यास ले ले। पर एक बार जाकर अपने परिवार से भी इजाजत ले आओ।' नरेश वहाँ से चला गया। तब भगवान के एक अन्य शिष्य ने पूछा, 'भन्ते ! आप तो सर्वज्ञ है और सभी को एक ही प्रेरणा देते है कि मुक्ति के मार्ग पर बढ़ चलो, पर यह समझ मे नही आया कि आपने उस नरेश को इतना इकार क्यों किया, फिर हॉ कैसे कहा, इसके पीछे रहस्य क्या है?' भगवान ने बताया कि 'यह साधक आगे जाकर फिसल जाएगा, इसीलिए मै इकार करता रहा।' शिष्य को और कौतूहल हुआ। उसने कहा जब मालूम है यह आगे जाकर फिसल जाएगा, तब आपने अनुमति कैसे दी? भगवान ने कहा, 'जिस श्रद्धा और भावना से प्रेरित होकर, लक्ष्य निर्मित कर यह व्यक्ति संन्यस्त हो रहा है, फिसल जाने के बादजूद उसी मार्ग पर पुनः स्वतः चला आएगा।'

मनुष्य के सामने लक्ष्य स्पष्ट और मुखर हो जाए तो वह हर हाल में उसे ओर गतिशील रहेगा। वह फिसल भी गया, तब भी मूल मार्ग पर लौट आएगा। फिसलन स्वाभाविक है। पर आँखों में लक्ष्य गहराई तक उतर जाए, तो ऑखें स्वयं अपना मार्ग तलाश लेती हैं, अंधेरे में भी रोशनी की तलाश ! तब केवल ध्यान मे बैठना ही कर्मो की निर्जरा मे चित्त की वृत्तियो के विसर्जन का निमित्त नहीं बनता, बल्कि श्वास-प्रति-श्वास के साथ भी उसके अन्तराय कटते है। लक्ष्य स्पष्ट होने पर उसका क्रोध भी कर्म को काटने वाला हो जाता है। काम का पुरुषार्थ भी बंधन और ग्रंथियों का निर्माण नहीं करता, वरन् वे विसर्जित ही होंगी। लक्ष्य की स्पष्टता उसे निर्वध, निर्ग्रंथ और निर्द्वन्द्व बनाती है। वह जानेगा कि उसे क्या करना है, क्या नहीं करना है। केवल लक्ष्य सामने होना चाहिए।

मीरा अपने गिरधारी को निमंत्रण दिया करती थी, 'बसो मेरे नैनन में नंदलाल'—यही मै भी कहना चाहता हूँ। अपने लक्ष्य को अपनी ऑखो में वसा लो। फिर तुम्हे कोई खतरा नहीं है। लक्ष्य धूमिल है, लक्ष्य स्पष्ट नहीं हुआ, इसलिए

भटकाव मिटता नहीं, तृप्ति आती नहीं। प्रश्न है : लक्ष्य क्या हो, जीवन का लक्ष्य क्या हो ? मनुष्य का सुखी होना ही उसका लक्ष्य है, लेकिन यह सुख ऐसा हो जिसमे दु:ख की परछाई न हो। स्वतन्त्रता हो, पर उसमे परतन्त्रता का सामना न करना पडे। वह आत्म-स्वतन्त्रता जिसमे पराधीनता का शिकार न होना पडे। हमारा राम 'रमता राम' बना रहे। भारत मे भगवान को राम की सज्ञा दी गई तो यह कुछ ऐसा नहीं है कि वह दशरथ का पुत्र ही बना रहे। राम का अर्थ है जो सबमे रमण करता है। वह राम तो महावीर भी है, वह राम रहीम भी है। वह राम आप और मैं भी हैं। वह राम दशरथ के बेटे मे भी रमता है। राम का 'र' ऋषभदेव और 'म' महावीर, राम का 'र' उस रहमदीदारे अल्लाह का वाचक और 'म' अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद का द्योतक है। वह राम तो सब मे रमण कर रहा है, हम सभी राम हो जाएँ। अच्छे-बुरे से निरपेक्ष होकर आनन्द-सरिता मे निमग्न हो जाएँ। जहाँ मनुष्य मे हर हाल मे मुस्कान बनी रहती है, वही सुख, सुख है। वही स्वतन्त्रता, स्वतंत्रता है, जिसमे पर का निमित्त गौण रहे; स्वय मे स्वय का निवास ही मुख्य है।

सबके साथ जीवन बिताते हुए सबके साक्षी बन जाने पर स्वतन्त्रता स्थिर रहती है। ससार के साक्षित्व के साथ स्वय के भी साक्षी बनो। इसका एक प्रयोग करें। आज रात को जब आप बिस्तर पर सोये हो, तब मान ले कि आप शैय्या पर नहीं, अपितु चिता की लकड़ियो पर सोए है। अब अपने से अपनी देह को अलग देखो। देखते-देखते जब लगे कि हमने विदेह-अवस्था, विदेह-अनुभव, विदेह-परस्थिति के उन क्षणों को आत्मसात कर लिया है, तब तत्काल उस चिता को तूली लगा देना। यह मानसिक तूली होगी। शरीर जल रहा है और उस जलते हुए शरीर के बीच में अपनी चेतना को अपनी प्राणवत्ता को देह से अलग देखना। जब सहज दशा आएगी; चिता अपने आप बुझ जाएगी। जिसे राख होना था, वह राख हो गया। तुम वही रहे, देह भी वही रही, लेकिन देह और चेतना के बीच का मिथ्या तादात्म्य जल गया। उन दोनो के मध्य का सेतुबध टूट गया। नदी-नाव का सयोग होते हुए भी दोनों स्वतत्र हो गये।

ये साधना की गहराई के तट है। हमे यह प्रयोग करना ही चाहिए अन्यथा अर्थ और काम के पुरुषार्थ हमे कुचलेगे। शरीर अक्षम हो जाएगा, असमर्थ हो जाएगा तब भी अर्थ और काम की आसक्ति बनी ही रहेगी। जीवन मे अर्थ और काम तो रहेगे, लेकिन यह जीवन का लक्ष्य नहीं, मजिल नहीं। ये मजिल की ओर

जाते हुए रास्ते मे आने वाले पड़ाव हैं, शायद बाधाएँ भी। जरा ठहरे, सांस ली और आगे मंजिल की ओर चल दिए। लेकिन हम पड़ावों को ही मंजिल समझ लेते हैं और उसी मे उलझ कर रह जाते है। पड़ावो के उलझाव इतने सघन हो जाते है कि हम लक्ष्य से ही भटक जाते हैं। द्रौपदी के पाँच-पाँच पति क्यो हुए ? सभी जानते हैं कि पूर्व जन्म मे वह साध्वी रही। साधना के लिए निर्बाध लेटी हुई थी। मृत्यु के क्षण समीप ही थे, देह-विसर्जन की वेला आ गई थी। तभी जिस पहाड़ी पर वह लेटी हुई थी, वहाँ कुछ स्वर सुनाई दिए। उसने पहाड़ी से नीचे झाँका और देखा कि एक स्त्री के साथ पाँच पुरुष अठखेलियाँ कर रहे थे। साधना के शिखर पर विराजित उस साध्वी के मन मे विचार आया, 'यह स्त्री कितनी भाग्यशाली है जिकसी सेवा में पॉच-पॉच पुरुष हैं।' वह यह नहीं जानती कि उसके द्वारा इस तरह संकल्प-विकल्प करने का क्या परिणाम होगा ! लेकिन यह ऐसा संस्कार निर्मित हुआ कि धर्म के द्वार पर देह तो विसर्जित हो गई, लेकिन परिणाम में मुक्ति नहीं, पाँच पति मिले। द्रौपदी का जन्म हुआ और पाँच पांडवों ने उसका वरण किया।

धर्म और मोक्ष के पुरुक्षार्थ मनुष्य के द्वारा साध्य होने चाहिए। वह अर्थ और काम के पुरुषार्थ शरीर-सापेक्ष, व्यवहार-सापेक्ष सुखो और सुविधाओं को पाने के लिए करता है, लेकिन इन पुरुषाथों में फँसकर न रह जाएँ। इन्हे सजगता से समझ लें। इनको जागरूकता के साथ, इनकी उत्पत्ति के स्थानो को देख लें, फिर सजगता से अलग हट जाएँ। स्वतः इनकी सार्थकता और निरर्थकता का अवलोकन करें। तब मनुष्य धर्म के द्वारा धर्म चाहेगा, मुक्ति चाहेगा। मनुष्य मात्र का, प्राणिमात्र का लक्ष्य मुक्ति हो। हम सभी इस मुक्तिमार्ग के अनुयायी बनें।

अब तक हमने अर्थ के पुरुषार्थ साधे हैं, काम के पुरुषार्थ साधे हैं और शायद किसी दृष्टि से धर्म के पुरुषार्थ तो किए ही हैं। मैं जिस पुरुषार्थ के प्रति सजग कर रहा हूँ, वह मुक्ति का पुरुषार्थ है। अर्थ के जंजाल में फँसे हैं, काम के भँवरजाल में फॅसे हैं। क्या हम सदा अर्थ और काम के दलदल में ही उलझे रहेंगे, या किसी कमल की तरह कीचड़ से बाहर भी आएँगे। अन्तर्-प्यास और अन्तर्-बोध जगे तो कोई बात बने। मरघटी वैराग से कोई बात नहीं बनने वाली है। मरघटी वैराग तो जब-तब जगता ही रहता है और तब धर्म के दो-चार स्फुलिंग प्रकट हो ही जाते होंगे।

चिनगारियाँ उठा करती हैं और बुझ जाती हैं। मूल्य तो उसी चिनगारी का है, जो किसी निमित्त से पैदा होती है और हमारे बोध के बुझे हुए दीये को सस्पर्शित कर जाती है। यदि हम अपनी मुक्ति के प्रति गम्भीर हों, तो जीवन और जगत में घटने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ भी कोई असाधारण परिणाम दे सकती हैं। साधारण-सी दिखने वाली कोई छोटी-सी घटना भी किसी अपूर्व प्रेरणा का काम कर जाती है और व्यक्ति तब मन के मायाजाल से बाहर छलाग लगा ही लेता है; निर्मल सत्य, शांति और मुक्ति की ओर बढ ही जाता है।

हालांकि किसी बूढे को, बीमार को, मुर्दे को या सन्यासी को देख लेना बहुत बड़ी बात नहीं है। रोजमर्रा की जिंदगी में हम देखते ही रहते हैं। पर जीवन में कभी ऐसी अवस्था भी होती है या चित्त-दशा होती कि घटना, घटना नहीं रहती, वह मुक्ति का आधार बन जाया करती है। कभी ऐसा भी होता है कि उसी मन:स्थिति में व्यक्ति गृह-त्याग कर सत्य को खोजने और पाने के लिए निकल पड़ता है यानी व्यक्ति अपनी सारी सुख-सुविधाओं को लात मारकर मुक्ति के मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ चलता है। तब व्यक्ति को लगता है कि जहाँ संसार में जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु की हर ओर त्राहि-त्राहि है, वहाँ उसके परे अजर-अमर निर्वाण की सच्चाई भी होगी ही। जहाँ जन्म है, वहाँ अजन्म अवस्था भी होगी। जहाँ जरा है, वहाँ अजर अवस्था भी होगी। जहाँ मृत्यु है, वहाँ अमृत-अवस्था भी अवश्य होगी। बस, यह जिज्ञासा, यह प्रेरणा ही जीवन में सत्य की अलख जगाया करती है, मुक्ति का आकाश दिलाया करती है।

आग की लपटों से बच निकलने का रास्ता है, रोगों से मुक्त होने की चिकित्सा है, काया पर चढ़े मैल को धोने के लिए सरोवर भी है। सत्य अपने साथ है, अपने पास है, पहचानने की प्रबल जिज्ञासा और पुरुषार्थ जागे, तो जीवन में वह फल मिल सकता है, जो हमें हमारी स्वस्ति-मुक्ति का स्वाद चखाए। हम अपने द्वारा पूर्व में अर्जित किये गए धन के बारे में, भोगे गए भोगों के बारे में बोधपूर्वक जानें कि हमें इनसे क्या मिला। जब भला एक सुई भी हमारे साथ नहीं जा सकती, तो फिर व्यर्थ का कैसा मोह, राग-द्वेषजनित अनुबंधों का क्या अर्थ। हम सभी अपने वास्तविक सत्य और शांति के स्वामी बनें। पुरुषार्थ आखिर वही होना चाहिए, जो हमें पूर्ण बनाए, अजर-अमर-अमृत बनाए।

❑

चातुर्मास की सार्थकता

आज चातुर्मास का स्थापना-दिवस है। धर्म-सघ के लिए चातुर्मास का उतना ही महत्त्व है, जितना किसी किसान के लिए वर्षा की बूँदो का। प्रायः साधु-संत और ज्ञानीजन यह किंवदंती कहा करते हैं कि अगर वर्ष के बारह महीनो में से वर्षा-ऋतु के चार मास घटा दें, तो किसान के जीवनयापन के लिए कोई दिवस शेष नहीं रहता। धर्मसंघ के लिए भी यही बात है। चातुर्मास का आगमन होते ही धर्म-संघ मे एक अलग ही लहर, एक अलग ही हिलोर, एक अलग ही सुकून दिखाई देने लगता है। जो व्यक्ति वर्ष में एक बार भी किसी धर्मस्थल पर अपने कदम नहीं रखता, वह व्यक्ति भी चातुर्मास की सूचना पाते ही वैसे ही धर्मस्थानो पर पहुँच जाता है, जैसे बादलो के मँडराने पर मोर नृत्य करने लगता है। प्रकृति ने हमें पंख नहीं दिये हैं कि जिनके सहारे हम आकाश मे उड़ान भर सके और हम इन चार महीनो में ही जन्म-जन्मान्तर के पापो से मुक्त हो सकें, लेकिन प्रकृति ने हमें पाँव अवश्य दिये है। इन पाँवो से चलकर हम कुछ पर्वत तो पार कर ही सकते है, कुछ शिखरों को तो चूम ही सकते हैं।

निश्चय ही चार महीने कोई बड़ा मायना नहीं रखते लेकिन हम चार महीनों को भी कम न समझें। नदी जहाँ से जन्म लेती है, वह धार कितनी पतली होती है, लेकिन धीरे-धीरे वह इतनी विशाल और विराट् होती चली जाती है कि गंगोत्री से पैदा होने वाली गंगा एक दिन गंगासागर बन जाती है! यह कोई सोच भी नहीं

सकता कि वादलो से बरसने वाली नन्हीं-नन्हीं बूँदें बाढ को जन्म दे देगी। जब छोटी-छोटी बूँदों का समागम होता है, तो वे ही बूँदें बाढ का रूप ले लेती है। एक छोटी-सी कल्पना भी एक महान् आविष्कार, एक महान् कला को जन्म दे सकती है। एक छोटा-सा कृत्य भी इतिहास की दिशा को वदल सकता है।

हम अपने हृदय के द्वार खोले, तो यह चातुर्मास चमत्कार घटित कर सकता है। सत्य का सूरज और आनन्द का अमृत हमारे घर-ऑगन मे उतर सकता है।

चातुर्मास के ये चार मास हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर है। अवसर के समुचित उपयोग करने में ही हर समझदार आदमी की बुद्धिमानी है। आदमी करवटे बदलता है और सोचता है कि कव सूर्योदय हो और कब काम-धधे पर लगूँ, लेकिन जव सूरज उगता है तो वह सोचता है कि अभी तो सूरज उगा है, अभी तो पूरा दिन पडा है। सुबह से दोपहर, शाम और रात हो जाती है, आदमी सोचता रहता है। वह प्रतीक्षा करता रहता है कि इस बार अवसर आये और मै उसका उपयोग करूँ। अवसर आता है, चला जाता है। जो व्यक्ति आने वाले क्षण के लिए अपने अवसर को टाल देता है, उसके जीवन से अवसर टल जाता है; जो अपने जीवन मे तत्काल अवसर का उपयोग कर लेता है, अवसर उसके सौभाग्य को जगा जाता है।

कहते हैं कि किसी संत ने एक गृहस्थ को यह आशीर्वाद दिया कि सावन-भादो के महीनों मे पूर्णिमा के दिन जब स्वाति नक्षत्र हो, तो उस दौरान अमुक मत्र का उपयोग करते हुए अगर खौलते हुए पानी मे जौ डाले जाएँगे, तो वे जौ, जौ नहीं रहेंगे, मोती बन जाएँगे। गृहस्थ अपने घर लौटा और उसने अपनी पत्नी से कहा कि दारिद्र्य को दूर करने का अवसर आ गया है, पूरी तैयारी कर लो। उसने सारी घटना, सारी विधि पत्नी को बता दी। जिस समय यह बातचीत चल रही थी, तो पड़ौसी के कान यह सब सुन रहे थे। उसने भी विधि जान ली। वे पड़ौसी-दपति भी तैयार हो गए क्योंकि आखिर अवसर आ रहा था।

पूर्णिमा आ पहुँची। ठीक मध्यरात्रि को पानी चढ़ा दिया गया अंगीठी पर। कुछ ही देर में पानी खौलने लगा। कहे गये मत्र बोले गये। पति ने सकेत किया कि जौ डाल दो। पत्नी समझ न पाई। उसने पूछा—'क्या जौ डाल दूँ?' पति झल्लाया—'हॉ, डाल दो। इसमें पूछने की कहाँ आवश्यकता है?' पत्नी की भी त्यौरियॉ चढ गई। उसने कहा—'गुस्सा क्यो होते हो? यह लो डाल दिये जौ।' यह कहकर उसने खौलते हुए पानी में जौ उँडेल दिये। जौ मोती तो न बन पाये, किन्तु

जौ की खिचड़ी ज़रूर बन गई। दूसरी ओर पड़ौसी ने भी वही उपक्रम किया। खौलता हुआ पानी जब अपने आप ठंडा हुआ और अंगीठी बुझी तो उसने देखा कि जौ के दाने मोतियो में बदल चुके थे। पति ने मोतियो से कटोरा भरा और पहली भेंट अपनी पत्नी को सौंपी क्योंकि जिसने अवसर का उपयोग कर लिया था, उसके ही जौ मोती बन गए।

यह चातुर्मास व्यक्ति-व्यक्ति के लिए अवसर है। यह अवसर केवल समाज या संघ के लिए नहीं है। अवसर उसका है जो अवसर का उपयोग करता है; मदिर उसका है जो मंदिर का उपयोग करता है। मंदिर बनाने वाले का मंदिर थोड़े ही होता है। जो बंशीवाले का उपयोग करे, बंशीवाला उसका। उपयोग करने वाले के लिए अवसर का मूल्य है, शेष के लिए वह अवसर अर्थहीन है। संध्याकाल मे गुरु प्रार्थना के लिए आसीन हुए, तो शिष्य ने गुरु को संकेत दिया कि 'प्रभु, आज रास्ते से गुजरते हुए आपके पाँव तले एक मेंढ़क कुचल गया। अच्छा हो कि प्रार्थना से पहले मेढ़क की मृत्यु का प्रायश्चित कर लिया जाए।' शिष्य गुरु को ज्ञान दे, यह गुरु को कैसे बर्दाश्त हो, सो वे आगबबूला हो उठे। उन्होने शिष्य को पीटने के लिए अपना डंडा उठाया, शिष्य दौड़ पड़ा। शिष्य आगे-आगे, तो गुरु पीछे-पीछे। अंधेरा था, गुरु खम्भे से जा टकराये और वहीं ढेर हो गये। शिष्य के शब्द गुरु के लिए एक संकेत, एक अपूर्व अवसर था, लेकिन अपने अहंकार की ग्रंथि के कारण, अज्ञान के अंधकार के कारण शिष्य द्वारा दिया गया प्रायश्चित का अवसर गुरु स्वीकार न कर पाये।

हमारे लिए यह चातुर्मास एक अपूर्व अवसर है और हमारे द्वारा कहा गया हर शब्द शिष्य द्वारा किया गया संकेत है। यह कदापि मत समझिएगा कि मै गुरु बनकर ज्ञान देने बैठा हूँ, मैं तो शिष्य बनकर अपनी ओर से संकेत दे रहा हूँ। हमारे जीवन मे कहीं कोई चूक हो गई, तो हमें चातुर्मास का यह अवसर मिला है, एक निमित्त मिला है। मेरे शब्दो को संकेत समझें और जीवन के रूपान्तरण के लिए, अपने मन की स्थिति को सुधारने के लिए और किए गए पापो के प्रायश्चित के लिए इनका पूरा-पूरा उपयोग कर ले। जो पहलू, जो चीज आपको अपने मुआफ़िक लगे, उसे अपने जीवन में ढाल लीजिएगा और जो अपने काम की न लगे, उसे निःसार समझकर छोड़ दीजिएगा।

चातुर्मास चार महीने की स्थापना है। यह जीवन का आध्यात्मिक प्रयोग और शिविर है। मनुष्य की चेतना, जो हर पल बाहर ही भटकती रहती है, उसकी भीतर

लौट आने की प्रक्रिया का नाम ही चातुर्मास है। इसलिए चातुर्मास अन्तर्यात्रा की प्रेरणा है, प्रेरणा का स्रोत है। जीवन मे जो भी चूक, पाप, अपराध हुआ हो, उसको बडी ईमानदारी के साथ स्वीकार करे। मनुष्य आखिर माटी की देह है, इसलिए गलतियॉ होनी स्वाभाविक हैं। वे मुझसे भी हो सकती हैं और आपसे भी हो सकती हैं, लेकिन उन्हें स्वीकार करना और स्वयं को निर्मल करने के लिए, अपनी चेतना को पवित्र करने के लिए उनसे मुक्त होना, यह व्यक्ति का दायित्व है। और लोग सुधरे, उनका कल्याण हो यह अच्छी बात है, मगर हम अछूते ही रह जाऍ यह चिंतनीय है। स्मरण करे कि वीते वर्ष मे कहॉ-कहॉ अपना अतिक्रमण हुआ ? कहॉ-कहॉ, किस सीमा को हमने लॉघा? किस मर्यादा और गरिमा का हमारे द्वारा उल्लंघन हुआ? लघन को अपने मे लौटाऍ, इसी वापसी का नाम प्रतिक्रमण है।

तीन शब्द हैं—आक्रमण, अतिक्रमण और प्रतिक्रमण। किसी ने हम पर हमला किया और हमने वदले में उस पर धावा बोला, तो यह हुआ आक्रमण। दुश्मन से लड़ते-लडते हम उसको उसकी सीमा के भीतर खदेडने चले गये, पर वहॉ के माया-सौदर्य ने हमे आकर्षित किया और हम वहीं पर जाकर बस गये—राग-रोष में, काम-क्रोध मे, विकृतियों में। यह हुआ व्यक्ति के जीवन का अतिक्रमण। कोई चन्द्रप्रभ, कोई चातुर्मास कर बैठा और हमे अपने घर की याद आई। कदम उठ चले पुनः घर की ओर; तूल से मूल की ओर, परिधि से केन्द्र की ओर। यह वापसी ही प्रतिक्रमण है। अपने घर लौट आना, अपने अन्तर्मन के द्वार पर लौट आना, अपनी अतश्चेतना मे लौट आना इसी का नाम प्रतिक्रमण है, इसी मे चातुर्मास की सार्थकता है।

मुझे स्मरण है कि जब मै छोटा था तो साथी बच्चो के साथ गांव के बाहर जाता और नदी-तट पर गीली रेत में घरौदे बनाता। जब घरौदा पूरा बन जाता, तो पॉव मिट्टी मे से धीरे-धीरे हटा लेता। तब एक खूबसूरत घर मेरे सामने होता। फिर घर की चारदीवारी बनती; घर पर एक कागज का झडा लगाया जाता। वे घरौंदे हम बच्चों को इतने लुभाते कि उन्हें छोड़ना अपने घर को छोडने जैसा था। साँझ को जब मॉ की आवाज़ आती तो वे ही घरौदे पॉव के नीचे रौद दिये जाते; उन पर कूदते-नाचते और फिर मॉ की अगुली थाम घर चले जाते। मॉ की आवाज़ यह अहसास करा देती कि अभी तक तो घरौंदों से अठखेलियॉ कर रहे थे, अब अपने घर जाना है। उधर, जब तक मॉ की पुकार न पहूँची, मेरे स्वर आपकी अन्तरात्मा

तक न पहुँचे, तब तक हमारे लिए घरौदों का मूल्य रहा और जैसे ही स्वर स्पर्शित हुए कि घरौदे टूट गये। मोह-माया के, राग-आसक्ति के घरौदे टूट जाते हैं, जब व्यक्ति को अपने वास्तविक घर की याद चली आती है।

मै, अपने घर मे लौटने की बात कहता हूँ। जैसे कोई पंछी दिनभर आकाश में उड़ता है और साँझ होते ही अपने नीड़ मे लौट आता है, ऐसे ही मैं अपनी अंतरात्मा में लौटने का निमंत्रण देता हूँ। शुरुआत भले ही आपको छोटी-सी लगे, लेकिन जीवन के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि आप अपने अपने चातुर्मास की शुरुआत कैसे करते हैं? आप इस चातुर्मास मे लाखो का दान देते हैं या नहीं, इससे पहले यह जानना उससे भी ज्यादा ज़रूरी है कि आप सुबह ज़ल्दी उठते है या नहीं। इस चातुर्मास के दौरान आप एक महीने का उपवास करते है या नहीं, उससे ज्यादा ज़रूरी यह है कि आप चातुर्मास के दौरान क्रोध पर संयम रखते हैं या नही। अगर आप प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि मै एक महीने तक क्रोध नहीं करूँगा, तो यह आपके द्वारा एक महीने का मासक्षमण का आचरण करना हुआ।

निश्चय ही हर आदमी एक महीने तक भूखा नही रह सकता, लेकिन हर व्यक्ति यह प्रतिज्ञा तो ले ही सकता है कि मैं आने वाले एक महीने तक चाहे जैसी स्थिति आ जाये, क्रोध नहीं करूँगा। माना आप प्रतिदिन सामायिक नहीं कर पाएँगे, लेकिन आप इतनी तो प्रतिज्ञा ले ही सकते हैं कि मैं प्रतिदिन दो घटे तक मौन रखूँगा। इस दो घंटे के मौन के आचरण मे आपको न तो आसन बिछाने की ज़रूरत हुई, न चरवला रखने की आवश्यकता हुई और न मुँहपति रखने या बाँधने की दिक्कत पेश आई। प्रतिदिन दो घटे मौन में रहना आपके द्वारा सामायिक का आचरण हुआ।

चातुर्मास के दौरान हमे जिन बातों पर ध्यान देना है, उनमे एक बात यह है कि आप कितने बजे उठते हैं और किस मनःस्थिति में दैनिक जीवन की शुरुआत करते हैं ? धर्म के अगले सोपान पर कदम रखने से पहले इस पर विचार करना अधिक समीचीन होगा। अगर आप सुस्ती से अपने दिन की शुरुआत करते हैं तो आपका पूरा दिन सुस्त और प्रमत्त बना हुआ रहता है। अगर आप स्फूर्ति से अपने दिन की शुरुआत करते हैं तो आप दूरे दिन प्रसन्नचित्त और आनंदित रहेंगे। रात को सोओ तो ऐसे सोओ कि जैसे हमने अपनी देह का विसर्जन ही कर दिया है, मृत हो गये हो और उठो तो ऐसे उठो

कि जैसे तुम अपने पॉवो की पुरानी जूती को उतारकर फेक रहे हो। जगते ही अपने चित्त मे प्रसन्नता, माधुर्य और आनंद की सुवास भरो।

अपने कार्य की शुरुआत करने से पहले योजना बना लो कि मुझे दिन मे क्या-क्या काम करना है, तत्पश्चात् उसका अनुगमन करो। व्यवसाय करो, लेकिन, अपनी नैतिकता, अपने ईमान, अपने जीवन-मूल्यो को सदा अपने साथ रखो। आदमी कितना भी बेईमान हो जाये, लेकिन नसीब से ज्यादा तो वह नही कमा सकता; आदमी कितना भी ईमानदार हो जाये लेकिन जो नसीब मे लिखा हुआ है, उससे तो वचित नहीं रह सकता। तो फिर किस बात का छल और प्रपंच? जीवन मे, जीवन के साथ उसका ईमान सुरक्षित रहे। वह व्यक्ति धन्य हो जाता है, जो सुवह उठने पर परमात्मा के नाम का स्मरण करता है और सॉझ को सोने से पहले किसी भी धर्मशास्त्र या श्रेष्ठ पुस्तक का चिंतन और मनन करता है। जो किसी शास्त्र का स्वाध्याय करता है, गुरु-चरणो मे उपस्थित होकर सत्सग का श्रवण और आचरण करता है, उस व्यक्ति का दिन पूरी तरह से सार्थक और पुण्यमय वन जाता है। भगवान कहते हैं—

सामायिकावश्यक पौषधानि, देवार्चन स्नात्रविलेपनानि।
ब्रह्मक्रिया-दानतपोमुखानि, भव्याश्चतुर्मासिकमडनानि।।

एक श्रावक, एक गृहस्थ चातुर्मास मे क्या-क्या करे ?

पहला सूत्र है—सामायिक करे। सामायिक यानी समता की स्थिति। सामायिक ही वह सीढ़ी है जो हमे सम्यक्त्व की ओर बढ़ाती है। सामायिक ही वह सोपान है जो हमे समाधि की तरफ अग्रसर करता है। सामायिक ही वह साधना है जो हमारे सम्यक्दर्शन की शुद्धि करती है। एक घटे की सामायिक स्वीकार करना वास्तव में एक घटे का सन्यास स्वीकार करना है; एक घंटे का मुनित्व अगीकार करना है। सामायिक का अभ्यास यहॉ होगा और सामायिक की साधना जब आप घर लौट जाऍगे, तो वहॉ होगी।

कल मैं एक स्थानक के पास से गुजर रहा था। वहॉ दो पंक्तियॉ लिखी थीं—'गुरु हस्ती के दो फरमान, सामायिक-स्वाध्याय महान्।' सामायिक और स्वाध्याय ही जीवन की आध्यात्मिक प्रयोगशाला के दो महत्त्वपूर्ण सोपान हुए। यहॉ आकर तो आप सामायिक का अभ्यास कर रहे हैं, सामायिक की साधना तो घर में होगी। घर में जब किसी तरह का वातावरण बनेगा और अगर आपने अपनी

समता बनाये रखी, तो वह सामायिक की साधना और कसौटी हो गई। आप यहाँ से दुकान गये है और वहाँ किसी ग्राहक से कुछ कहासुनी का वातावरण बन रहा है और वह गालीगलोच में तब्दील न हो जाय, यही सोच कर आपने तत्काल अपने मुँह पर बँधी मुँहपति का स्मरण कर लिया और समता धारण कर ली तो आपकी सामायिक हो गई। घर में जब भोजन ग्रहण करे तो उससे पहले करबद्ध हो जाएँ। यह न मानें कि भोजन मै कर रहा हूँ। आप यही माने कि मेरे भीतर जो परमात्मा विराजमान है, मै उस भगवान को भोग चढ़ा रहा हूँ। भोजन चाहे थोड़ा फीका है या खारा या तीखा, अपनी ओर से कोई प्रतिक्रिया न हो। अगर हम भोजन को एक समान भाव से स्वीकार कर ले तो यह हमारी ओर से सामायिक हो गई।

चलो, हम इस चातुर्मास के दौरान कुछ लघु प्रयोग करे। प्रतिदिन दो घटे का मौन रखें और जब हम किसी भी वक्त भोजन करने बैठें, तो यह बोध रखें कि भोजन मौनपूर्वक हो। यह कार्य भी संकल्पबद्ध हो कि भोजन करने के बाद एक उपवास का फल पाने के लिए मैं थाली को धोकर पीऊँगा। इसमें न तो आपको भूखों मरना पड़ा और न आने-जाने में कोई रोक-टोक लगी। फिर भी सामायिक की साधना हो रही है, तपस्या आपके द्वारा आचरित हो रही है।

अगर प्रतिदिन भगवत् पूजा कर सकते हो तो अवश्य करो। आखिर जिस परमात्मा ने हमे जन्म दिया, जिसका आश्रय लेकर हम अपना जीवन व्यतीत कर रहे है, उस परमात्मा का अगर स्मरण न कर पाये तो, तो फिर किसका स्मरण करोगे? बीवी को स्मरण करने के लिए तो तेवीस घटे हैं, दस मिनट तो परमात्मा का भी स्मरण किया जा सकता है। अगर आप सुबह-सुबह दस मिनट परमात्मा का ध्यान धरते है और दस मिनट साँझ को ध्यान धरते है तो यह बिल्कुल ऐसे ही हुआ कि जैसे कोई व्यक्ति सुबह-शाम विटामिन की एक-एक गोली लेता है, जिसका असर आठों याम रहता है। अच्छा होगा कि हम भगवान का स्मरण विटामिन की टेबलेट समझकर ही कर लें। इससे स्वतः हमारी मन की स्थिति बदलेगी, चित्त की दशा सुधरेगी।

एक छोटा-सा प्रयोग आप और कर सकते हैं। आप मुझे सुनने के लिए यहाँ पहुँच रहे हैं। अच्छा होगा, आप घर से पांच मिनट और पहले निकलें। यहाँ के करीव में ही मंदिर है, वहाँ जाएँ और आनंद-भाव से धोक लगाकर यहाँ चले आएँ। यहाँ आना केवल गुरुद्वारे पर आना ही नहीं हो जायेगा, वरन् मंदिर की

परिक्रमा लगाकर यहाँ पहुँचना हुआ, तो देवपूजा और गुरुपूजा- दो-दो लाभ एक साथ मिल जाएँगे। मान लो कि पहुँचने में देर हो गई तो भी कोई हर्ज नहीं क्योंकि यहाँ से लौटते वक्त आपने अपने पुष्प समर्पित कर दिये। वहाँ का वातावरण पवित्र और सौम्य होता है, इसीलिए मदिर जाने की प्रेरणा है। शेष तो आदमी जहाँ बैठा है, वह हर स्थान परमात्मा का मदिर ही है। आप स्वय अपने आप मे परमात्मा के मदिर है। भगवत्पूजा का परिणाम हमे मिल सकता है, सुबह-शाम या हर वक्त—जब भी याद आये 'श्रीप्रभु' स्मरण किया, आनद से भरे और काम-धधे मे लग गये, भगवत्पूजा स्वत. सपन्न हो जायेगी।

आप चातुर्मास के दौरान यथाशक्ति दया-दान देंगे ही, अपनी ओर से तपस्या भी करेगे ही। हमे कुछ-न-कुछ आराधना ऐसी करनी है कि जिससे तन-मन निष्पाप हो सके, हमारे कदम पुण्य की ओर बढ सके। केवल बाह्य क्रिया-सापेक्ष न बनें, वरन् अंतरशुद्धि सापेक्ष बने, ताकि जब चार महीने पूरे बीते, तो हम अपने अन्तर्मन मे उतरकर अपने को पहचाने तो ऐसा लगे कि हम कुछ बदले; कुछ उपलब्ध हुए; कुछ नया हुए। ऐसी बोधगत सजगता, ऐसी स्थिति हमारे साथ बरकरार रह सकती है। भगवान करे, यह चातुर्मास केवल चातुर्मास न रहे, हमारे लिए जीवन का वरदान और एक अपूर्व अवसर बन जाये।

यह जो बूंदावादी हो रही है, अगर अपना हिया खोलोगे तो यह उसे निर्मल, सौम्य और प्रक्षालित करेगी। हृदय के द्वार बद न करें। ध्यान रखे कि घडा जब तक पानी में नहीं डूबता, उसमें पानी भरने वाला नहीं है। घड़ा ज्यों-ज्यों पानी में उतरेगा, त्यों-त्यों सागर गागर में समाएगा। अगर चाहते हो गागर मे सागर होना, तो गागर को डुबोना होगा। चातुर्मास हम सबके लिए कल्याणकारी हो, धर्मसघ के लिए कल्याणकारी हो; हमारे चित्त को नया शुकून, नया आनद और नई पवित्रता देने वाला बने, ऐसी ही परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है, आप सबके लिए कामना है।

आप सबके भीतर विराजमान परम पिता परमेश्वर की पावन ज्योति को नमस्कार।

❑

सत्संग : जीवन-रूपान्तरण का अमृत मार्ग

दुनिया मे कुछ लोग ऐसे होते है जिन्हे सदन से कोई प्रयोजन नहीं होता। वे लोग सदन की राजनीति से पूरी तरह अप्रभावित रहते है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें सदन की राजनीति अपनी ओर खींच लेती है। वे सदन के बाहर खडे होकर हो-हल्ला मचाते है, धरना देते है और अनशन करते है। कुछ लोग सदन के बाहर खड़े होकर पहरेदार की भूमिका निभाते है कि किस आदमी को भीतर प्रवेश दिया जाये और किसे द्वार पर ही रोक लिया जाये। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनका सदन में बेरोकटोक प्रवेश होता है। वे ही सदन के असली स्वामी माने जाते हैं।

पहली किस्म के लोग संसारी होते है। वे संसार के प्रति आसक्त होते है। उन्हे सत्संग से कोई प्रयोजन नही होता है। दूसरी किस्म के लोग वे होते हैं, जो सत्संग से प्रभावित तो हो जाते हैं, लेकिन वे भीतर प्रवेश नहीं कर पाते। वे लोग अपने आपको समाज का नेता घोषित कर देते हैं। तीसरी किस्म के लोग वे हैं जिन्हे न तो सदन से मतलब होता है, न सत्संग से और न ही समाधि से। वे लोग द्वारपाल की तरह, एक पहरेदार की तरह दरवाजे पर खडे रहते है। ये कथावाचक ज्यादा से ज्यादा दो-चार गीत गा सकते हें; दो-चार डंडे बजा सकते हैं।

चौथी किस्म के लोग वे होते हैं, जिनके भीतर सत्सग का ऐसा रग चढ जाता है कि वह सत्सग उनके लिए अन्त· प्रवेश का प्रवेशद्वार सिद्ध होता है। ऐसे लोग सत्सग के द्वारा भी अपने जीवन की महान् उपलब्धियो को आत्मसात् कर सकते है। जिन लोगो के जीवन मे सत्सग की सौरभ प्रकट हो चुकी है, जो सत्सग के रग मे अपने मन को रगने मे रत है, उनके लिए तो सत्सग सत्य-प्राप्ति का निमित्त बनता है।

सत्सग कोई कथा-वाचन नहीं है, कोई प्रवचन नही है। सत्सग तो व्यक्ति के लिए अन्तर-सदन मे प्रवेश का जरिया है। व्यक्ति अपने भीतर के सदन मे दो ही तरीकों से प्रवेश कर सकता है। पहला, उसकी अपनी पहुँच हो। दूसरा, स्वयं की पहुँच नहीं है और गुरु की पहुँच है तो वह व्यक्ति उस ज्ञानी-मनीषी का हाथ थामकर आत्म-सदन तक पहुँच सकता है। यदि खुद पहुँच सको तो उसका तो कोई मुकाबला ही नहीं है और खुद न पहुँच सको तो किसी ऐसे कल्याण-मित्र की तलाश करना जो तुम्हारे भीतर के सदन-प्रवेश मे सहायक बने; जो तुम्हे भीतर की नीति-राजनीति और आध्यात्मिकता से रू-ब-रू करवा दे।

भीतर के सदन में प्रवेश करने का मार्ग है—सत्सग। सत्सग का मतलब ही होता है—अच्छी सोहब्बत, भली मैत्री, जिसमे कहीं असात्त्विकता और अपवित्रता नहीं है। यह सत्सग हमारे जीवन मे कल्याण का मार्ग दर्शा सकता है, इसीलिए तो मैं भी चला आता हूँ इस सभा-मडप में, ताकि 'स्वय क्या है' इस बात का लोगों को बोध हो सके, भान हो सके। वे इसी बहाने स्वयं की पहचान कर सके। आचार्य शकर 'भज गोविन्दम् स्तोत्र' मे कहते हैं—

> का ते कान्ता, धनगत चिन्ता, वातुल किं तव नास्ति नियता।
> क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका, भवति भवार्णव तरणे नौका।।

किसी सज्जन की, किसी पहुँचे हुए आदमी की दो पल की सोहब्बत और संगत मिल जाए तो इस ससार-सागर से पार उतरने के लिए बहुत बड़ी मदद मिल सकती है। डूबते को नौका मिल सकती है। केवल दो पल की सत्सग! आप सोच रहे होगे कि पल-दो-पल की सोहब्बत से क्या होगा? यदि आप यहाँ आकर एक घंटे की बात को सुनते है तो नहीं कहा जा सकता कि वे सारी बाते आपके हृदय को स्पर्श कर पाती है। सभव है कि आपने एक महीने तक सुना, फिर भी कुछ रूपान्तरण न हुआ और एक घटे के प्रवचन मे से कोई एकाध बात ही आपके

हृदय के रूपान्तरण के मार्ग को प्रशस्त कर दे। लगना हो तो कंकरी ही काफ़ी है, अन्यथा तीर भी बेकार चले जाते है।

बात लगने की है। महावीर की थोडी देर की सोहव्बत पाकर चंडकौशिक, भद्रकौशिक बन गया। जो क्रोध का अवतार माना जाता था, थोड़ी देर की सत्सग पाकर वही क्षमा की मूर्ति बन गया; जिसके जीवन से हिंसा और क्रोध की ज्वालाएँ निकलती थीं, उसी के जीवन में क्षमा, प्रेम और सहिष्णुता की अजस्र जलधारा बहने लगी। जो दिव्यता महावीर को मिलती है, उससे पहले चंडकौशिक को मिल जाती है। सत्संग की आधारशिला को प्राप्त कर लेने पर चण्डकौशिक महावीर से पहले निर्वाण को उपलब्ध हो गया। जहाँ भगवान ऋषभदेव के कारण मरुदेवी को परम ज्ञान उपलब्ध होता है, वहीं भगवान महावीर अपनी सोहबत से एक पशु को भी निर्वाण देते हैं। अंगुलिमाल एक कुख्यात रक्तपिपासु डाकू था, उसका नियम था कि वह मनुष्य की अंगुलियों को काट-काटकर देवी माँ का चढ़ाएगा। वह वीभत्स दस्यु बुद्ध की क्षणिक सोहबत से एक महान् भिक्षुक बन गया। अनाथी मुनि की थोड़ी-सी देर की सोहबत के कारण ही तो श्रेणिक सम्राट् से श्रावक बन जाते हैं। गौतम स्वामी की थोड़ी-सी देर की सोहबत ही अतिमुक्त को रूपान्तरित कर देती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। औषधि की एक खुराक ही जीवन को आठ प्रहर तरंगित करने के लिए पर्याप्त है। किसी सरोवर को उद्वेलित करने के लिए किसी बड़े पत्थर की नहीं, बस एक कंकरी की ही जरूरत होती है।

'क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका' क्षण भर की भी संगति क्यों न हो, भले मानुष की तो क्षणिक संगति भी कालजयी होती है। दुष्ट लोगों के साथ तो जीवन भर रह लो, सिवा दुष्टता के और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। लक्ष्मण और भरत जैसा भाई मिले, तो वनवास भी भारभूत नहीं लगता। सीता जैसी पत्नी मिले, तो संसार में हुआ प्रवेश भी बाधित नहीं होता। शकुनि जैसे सामंत घर में आकर रहें, तब कलह और नाश के सिवा कुछ नहीं है।

संगति, स्नेह और मैत्री सदा अच्छे लोगों से करनी चाहिए। भले ही तुम बच्चे या युवक हो, पर बुजुर्गो के बीच बैठो, ताकि उनके अनुभवों से तुम लाभान्वित हो सको। कृष्ण जैसा व्यक्तित्व सारथी के रूप में मिले, तो भी श्रेष्ठ; अन्यथा करोड़ों की अक्षौहिणी सेना का क्या। इसलिए अच्छे लोगों के साथ बैठो।

अच्छे लोगों की, प्रबुद्ध, शात ओर उदार लोगों की सोहबत करो। जीवन के नियमन और रूपान्तरण के लिए यह पहला सूत्र समझिए।

'कौन आदमी कैसा है ?'—यदि यह जानना हो तो उस व्यक्ति से मत पूछिए। यह जानने का प्रयास कीजिए कि उसकी संगति किनके बीच है, वह किन लोगों के बीच उठता-बैठता है। जैसी उस व्यक्ति की सगति होगी, वैसा ही उसका आचरण होगा। यदि एक पत्थर को राम का सामीप्य मिलेगा, तो वह अहिल्या का रूप ले लेगा और यदि रावण के साथ जाएगा, तो लका जाकर भी वहाँ से दुत्कारा ही जाएगा।

एक जौहरी की दुकान पर बैठकर तुम जौहरी ही बनोगे और शराबी की दुकान पर बैठकर तुम शराबी ही बनोगे। अगर पानी दूध के साथ मिल जाएगा तो वह पानी दूध के भाव बिकेगा और अगर वही दूध पानी में जाकर मिलेगा तो केवल दूध ही बेकार नहीं होगा, पानी भी व्यर्थ चला जाएगा। यदि माटी कुभकार के हाथ से गुजर जाए तो वह घट का रूप ले लेगी और वही माटी ऐसे ही पड़ी रह जाए तो सड़ाँध पैदा करेगी। इसी तरह कोई पत्थर शिल्पकार के हाथ से गुजर जाए तो प्रतिमा बन जाएगा, अन्यथा लोग उस पर थूकेंगे, पेशाब करेंगे। जीवन के पत्थर के साथ आप कैसा सलूक चाहते हैं, अब इसका निर्णय आपको ही करना है।

एक बात तय है कि कीमत पत्थर या प्रतिमा की नहीं है, कीमत मूर्तिकार के हाथों में बसने वाली कला की है। अगर हम उस कलाकार, उस सद्गुरु के पास जा रहे हैं और वह सद्गुरु कुछ भी न बोले, तब भी चिंतित न हो। सद्गुरु के पास रहना-जाना ही अपने आप मे सत्सग है; सद्गुरु के सान्निध्य मे बैठना ही अपने आप मे शाति को उपलब्ध करना है।

बिन सत्संग विवेक न होई।
सद्गुरु बिन सत्संग न होई।।

सत्सग तो सौरभ है जीवन की। सत्सग दृष्टि है जीवन की। विवेक है यह व्यक्ति का। जीवन मे सबसे दुष्कर कार्य है किसी सद्गुरु का प्राप्त होना। जिन यम-नियमों का हम पालन कर रहे है, उनका पालन हम अतीत मे भी कर चुके हैं, इस जन्म से पूर्वजन्म मे भी कर चुके है, पर वह बात न बन पाई जिसकी हृदय मे चाहत रही। आखिर क्यों ? राजचन्द्र कहते है, 'वह साधन बार अनन्त

कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो' अर्थात् साधना-पथ के साधनों का तो अनगिनत बार उपयोग किया, पर अभी तक हाथ कुछ भी नहीं लगा। साध्य सिद्ध न हुआ। क्यो ? इसलिए कि साधन मिले, पर सद्गुरु न मिल पाये। सद्गुरु जिसे कि वास्तविक सद्गुरु कहे, जन्म-जन्मान्तर के पुण्योदय से ही मिल पाते है। जरूरी नहीं है कि हर व्यक्ति को सद्गुरु मिल ही सके। पर मेरे देखे, हर व्यक्ति के भीतर भी एक सद्गुरु आसीन है। जानते हो वह कौन है? वह है भीतर का विवेक।

विवेक की आँख का खुलना ही सद्गुरु को आत्मसात् कर लेना है। कितनी सुन्दर बात है: बिना सद्गुरु के सत्संग नहीं होता और बिना सत्संग के विवेक नहीं मिलता। संगत हो अच्छों की, भलो की, पारस की कि जिसके साथ रहकर लोहा भी सोना बने। संगत हो उस गुलाब की, कि जिसके साथ रहकर ओस भी सुवासित बने। संगत हो सरिता की, कि जिसके कारण हमारा तरुवर भी सिंचित-सौम्य बने। कबीर का दोहा है, और वह भी इतना प्यारा कि एक दोहे की कीमत लाख के बराबर। कबीर कहते हैं—

कबीरा गंदी कोटची, पाणी पीवै न कोय।
जाय मिले जो गंग में, सो गंगोदक होय।।

नाली के पानी को कोई नहीं पीता। गंदे पानी को भला कौन पीना चाहेगा ! पर अगर यही पानी गंगा में मिल जाता है, तो वही गंगोदक हो जाता है, वही भगवान का प्रसाद हो जाता है; भगवान का चरणामृत बन जाता है। जिसे लोग क्षुद्र गिलहरी समझते हैं, उस पर भी श्रीराम की कृपा हो जाती है। डाकुओं का दिल भी बदल सकता है। वे भी अहिंसा और करुणा के पथ पर कदम बढ़ाकर सर्वोदयी मानवता के मंदिरों का निर्माण कर सकते हैं। डाकू मंगलसिंह साधु-हृदय होकर सही में मंगलकर सिद्ध हो सकते हैं। फूलन सुधर सकती है। तुम, अपराधियों और उग्रवादियों के मन को बदल सके, ऐसी चीजें उन्हे दो, वह संगत और रंगत दो, दानवों को देव बनने में समय नहीं लगेगा। 'सो गंगोदक होय'। नाले का पानी भी गंगोदक हो जाया करता है। रोहिणेय चोर भी रोहित मुनि हो जाता है, वाल्मीकि भी महानता को छूकर वेद व्यास से महर्षि वाल्मीकि का विरुद पा सकता है।

इसे कहते हैं मन का परिवर्तन, जीवन का रूपान्तरण।

मैं आपके बीच इसीलिए आता हूँ कि भीतर की मूर्च्छा, निद्रा व तंद्रा येन-केन-प्रकारेण टूट जाये। मैं आपको रात्रि-जागरण के लिए नहीं, वरन् भाव-निद्रा व भाव-तंद्रा को तोडने के लिए कहता हूँ। यदि भीतर की भाव-तंद्रा भंग न हुई तो उस व्यक्ति को भंग होने से कौन बचा सकता है । जिस समाज में प्रेम और भाईचारे की भावना नहीं आती, वह समाज भी एक दिन मिट जाता है। इसी संकीर्ण राजनीति के कारण आज देश टूट रहा है, युवा-वृद्ध वर्ग के बीच फासले निरन्तर बढते जा रहे हैं। इसीलिए भाव-निद्रा को भंग करने के लिए कबीर-सी शब्द-लाठी भी उठानी पडे तब भी कोई चिन्ता नहीं। मैं चाहता हूँ कि व्यक्ति जग जाये।

सार-संदेश यही है कि भीतर की मूर्च्छा टूटे, तुम जागो और जीओ; अंधा बनकर नहीं, वंध्या बनकर नहीं, ऑख खुले, भीतर की प्रसूति हो। हमारा बोध हमारे साथ हो। गरीब की नहीं, अमीर की जिंदगी जीओ। आत्मा की अमीरी हाथ लगे। हम अपने सम्राट् खुद हों। मन में समाया नरक स्वर्ग में तब्दील हो। यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जाए कि हमें फिर किसी स्वर्ग की तलाश न करनी पड़े। तुम स्वयं देव हो जाओ, तो देवों से तो स्वतः तुम्हारी दोस्ती होगी। 'देवा वि तं नमंसंति'। देव भी तुम्हें नमस्कार करेंगे।

सत्संग—इसके लिए जरूरी है कि 'संगति सत् हो, विचार सत् हो, आचार सत् हो, व्यवहार सत् हो, गुण सत् हो। साधु-हृदय सज्जन लोगों से मैत्री हो। बुद्धों से प्रेम हो। महापुरुषों के साथ जीना हो। सज्जनों की सोहबत हो। ऊँचे विचार रखो, ऊँचा व्यवहार रखो, ऊँचे गुणों को आत्मसात् करने के लिए प्रयत्नशील रहो। मन में सद्‌विचार हो, व्यवहार में सम्यक् आचार हो, ये दो सूत्र भी काफी हैं।

'क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका' क्षण भर भी सम्यक् संगति मिले, तो स्वीकार्य है। पता नहीं कब कौन-सा ऐसा क्षण आ जाये कि 'भवति भवार्णव-तरणे नौका'। ध्यान घटित हो ही जाये; शाति और शुद्धि के निर्झर बह ही पड़ें, नौका को किनारा मिल ही जाये।

सत्सग तो प्राणिमात्र के लिए अमृत रूपान्तरण का मार्ग है। मिट्टी को मूर्ति बनाने का, गन्दगी को सुगन्ध मे परिणत करने का, गदे को गंगोदक बनाने का अमृत मार्ग है यह। तुम्हारा पति अगर शराब पीता है, तो तुम उसे शायद मुक्त न कर पाओ। तुम उसे किसी अच्छे सत के यहाँ जाने के लिए प्रेरित करो। तुम

पाओगे कि धीरे-धीरे उसे इस बात का अहसास होता जाएगा कि वह जो कर रहा है, कितना गलत है। सत उसे शराब छोड़ने को न भी कहे, उसके पास जाने भर से उसका हृदय रूपान्तरित होगा। वह बदलेगा। संत का हृदय ऐसी उर्मियो से, उस प्रार्थना से, उस दिव्य भावना से भरा हुआ रहता है कि उसके हृदय का आभामंडल अपने आप काम करता है।

अपने यहाँ कई-कई लोगो का जीवन ऐसे बदला है। मन बदला है, व्यवहार बदला है, खान-पान बदला है। यह परिवर्तन ही तो जीवन की दीक्षा है। ध्यान रखो, (जीवन बहुत छोटा है, इसमें तुम जो कुछ कर लो, वह तुम्हारा है। तुम ऐसा कुछ करो, जिससे तुम्हें भी, तुम्हारे परिवार और समाज को भी सुख मिले, तुम्हारा सहज आदर्श रूप मिले।

बड़ी प्रसिद्ध कहानी है 'झेन का डंडा'। जागरण का, आत्म-जागरण का शंखनाद करने के लिए बड़ी कीमिया है यह घटना।

कहते हैं : एक सम्राट् एक झेन फकीर के पास पहुँचा। कहने लगा—'प्रभु, मै समाधि को आत्मसात् करना चाहता हूँ। ध्यान की परम दशा मे उतरना चाहता हूँ, मेरे मददगार बने।' संत ने कहा—'ठीक है, तुम ध्यान को उपलब्ध हो जाओगे।' सम्राट ने पूछा—'पूज्यवर, यह बताएँ कि मै ध्यान को कितने वर्ष मे उपलब्ध होऊँगा।' संत ने सम्राट् को गौर से देखा और कहा—'यही कोई बीस साल लगेंगे।' सम्राट् ने कहा—'बीस साल तो बहुत होते है। कुछ कम कीजिए।' संत ने कहा—'पन्द्रह साल सही।' सम्राट ने निवेदन किया—'यह भी बहुत ज्यादा है। मुझे साम्राज्य त्यागना पड़ेगा, सब लोगों से विरक्ति लेनी पड़ेगी। पन्द्रह साल तो बहुत हो जाएँगे। फिर जिन्दगी का भी तो भरोसा नहीं, कब शाम हो जाए।'

सम्राट् की बात सुनकर सन्त ने कहा—'अच्छा ठीक है, दस साल सही।' वह बोला—'यह भी बहुत ज्यादा है।' संत ने कहा—'पाँच साल।' सम्राट् ने कहा—'थोड़ा और कम कीजिए।' संत बोले—'तीन साल से कम नहीं होगा। तुम्हारी इच्छा हो तो रहो, अन्यथा चले जाओ।' सम्राट् को आत्म-ज्ञान उपलब्ध करना था, अतः उसने हामी भर ली। सत ने एक शर्त रखी कि 'मै जो कुछ करूँगा उस पर तुम प्रतिक्रिया नही करोगे। वैसा करने के लिए इंकार न करोगे। मेरा हर शब्द, मेरी हर आज्ञा तुम्हे शिरोधार्य होगी।' सम्राट् ने यह शर्त भी सहर्ष स्वीकार कर ली।

सत सम्राट् से खाना पकवाता: कुएँ से पानी खिचवाता; लकडियॉ तुडवाता; अपने पॉवों की मालिश करवाता, ऐसे ही दिन पर दिन बीतते रहे। साल भर गुजर गया, मगर सद्गुरु ने ध्यान उपलब्ध कराना तो दूर रहा, 'ध्यान' शब्द की चर्चा तक नहीं की। सम्राट् ने सोचा—'ये गुरुजी तो मुझसे अपनी सेवा करवाकर छुट्टी कर देगे। ये तो कुछ भी सिखाते नहीं।' यह सोचते-सोचते वह खाना पकाने लग गया। इतने मे गुरुजी आए और पीछे से डडा दे मारा। वह चौका, सोचने लगा—'गुरुजी की इतनी सेवा करता हूँ और ऊपर से डडा भी खाता हूँ। करे भी क्या, गुरु ठहरे।'

अगले दिन फिर गुरुजी दबे कदमो से आ पहुँचे और डंडा टिका दिया। तीसरे दिन जैसे ही गुरुजी आने लगे, वह पदचाप से ही चौकन्ना हो गया। जैसे ही गुरुजी ने डंडा मारना चाहा, उसने हाथ बढ़ा दिया और डडा हाथ मे आकर अटक गया। गुरुजी मुस्कुराये और चले गये। उन्होंने तीन-चार दिन तक फिर डडा मारना चाहा, मगर डडा उठने के पहले ही रुक जाता। सम्राट् सजग हो गया था। अब तो गुरुजी ने डडे मारने छोड़ दिये।

महीना भर और गुजरा होगा कि देखा सम्राट् सोया हुआ है। अचानक गुरुजी आये और सोये-सोये को ही डडा मारा। वह चौंका, सोचा—'गुरुजी दिन में जगे-जगे डंडा मारते थे, वह तो बर्दाश्त भी हो जाये, लेकिन अब तो सोये-सोये ही डंडे खाने पड़ेंगे!' अगले ही दिन से सम्राट् की नींद मे धुनाई का क्रम चल निकला। सम्राट् की नींद हराम हो गई। अब तो हाल यह हो गया कि गुरुजी जैसे ही रात को दो बजे दाखिल होते, थोडी-सी आहट या परछाई पाकर वह उठ बैठता। सम्राट् के सामने ही नहीं, गुरुजी के सामने भी दिक्कत हो गई कि अब वे न तो सोते हुए सम्राट् को डडा मार सकते है और न ही जगे हुए को।

एक दिन जब सद्गुरु रात के अंधेरे में सम्राट् के कमरे मे दाखिल हुए, तो उनकी परछाई को देखकर भी सम्राट् जग पड़ा। सत ने मुस्कुरा कर कहा, 'तुम समाधि के बीज को उपलब्ध हुए। आओ, अब हम भीतर उतरे और भीतर के प्रति भी इतनी सजगता साध ले, जितनी तुमने बाहर साधी है। सजगता ही ध्यान है। यही समाधि की नींव है।'

मजे की बात यह है कि एक दिन सम्राट् झाडू लगा रहा था। उसने मन ही मन सोचा—'ये गुरुजी मुझे रोजाना डडा मारते रहे है, यह देखने के लिए कि मै

जगा हुआ हूँ कि नहीं हूँ। मै भी तो इन्हें एक डंडा मारकर देखूँ। पता तो चले कि ये कितने जाग्रत हैं।' वह सोच ही रहा था कि तभी गुरुजी आ पहुँचे। गुरुजी ने कहा—'बेटा, ऐसा मत कर बैठना। बूढ़ा हूँ, कहीं हड्डी-पसली एक न हो जाए।' वह बोला—'गुरुजी क्या हुआ। मैने तो कुछ भी नहीं किया।'

सम्राट् की बात सुनकर संत मुसकुराये। उन्होंने कहा—'तुमने तो कुछ भी नहीं किया किन्तु तुम्हारे मन ने तो बहुत कुछ कर दिया। तुम्हारे भीतर जिस ध्यान को उपलब्ध करने की आतुरता थी, वस्तुतः वह तुमने पा लिया है।' 'क्या मतलब ?' सम्राट् ने पूछा। संत ने कहा, 'वत्स, जो प्रतिक्षण अपने मे जाग्रत है, वह अपने इर्द-गिर्द उठने वाली हर धूल को जान लेता है। तुम्हारे मन मे मेरी कसौटी कसने की भावना उठी, तुम भी ऐसे ही हर तरंग को पकड़ लोगे, जैसे मुझे ज्ञात हुई। भीतर की तन्द्रा का टूटना ही समाधि की शुरुआत है। तन्द्रा टूटने के बाद जो बचता है, वह समाधि ही है।' और यह कहते हुए उस संत ने वापस वही डंडा निकाला जिसका वह पहले जागृति के लिए उपयोग करता था। उसने वह डंडा सम्राट् के सिर से लगाया। सम्राट् ने पलके झुका लीं और अन्तर्निमग्न हो गया। उसने पाया उसका तन-मन-चेतन सब कुछ प्रकाशमय है। वह आनंद से अभिभूत हो गया। उसकी जब ऑख खुली, तो उसने पाया, वह वह न रहा, जो था। वह नया हो गया, चैतन्य हो गया। एक ऐसा संत हो गया, जिसने फिर कभी मिट्टी के महलों की ओर नज़र न उठाई।

जब भी किसी इंसान के भीतर की भाव-निद्रा भंग होती है, मन की तन्द्रा टूटती है, तब आदमी परम ध्यान को उपलब्ध कर लेता है। जब तक व्यक्ति की भाव-दशा में बेहोशी, मूर्च्छा और प्रमत्तता बसी हुई रहती है, वह व्यक्ति ध्यान और स्वाध्याय के हजारो मार्गो से गुजरने के बावजूद ध्यान को उपलब्ध नहीं कर पाता।

व्यक्ति के भीतर की निद्रा टूट जानी चाहिए, भीतर का अंधकार समाप्त हो जाना चाहिए।

भीतर के उस अंधकार को भगाने के लिए एक छोटा-सा चिराग़ जला लेना काफी होता है। अन्तर-जागरण का चिराग, ध्यान का चिराग ! ध्यान के लिए सजगता चाहिए और सजगता के लिए जीवन-बोध और जीवन-बोध के लिए सद्गुरु का सान्निध्य, सत्संग। सजगता सध गयी तो सब सध गया। 'इक साधे सब सधै'। अब तुम्हारे लिए झाड़ू लगाना भी, खाना बनाना भी, राज्य का संचालन

करना भी ध्यानपूर्वक होगा। इधर आओ। ऑख बन्द करो। भीतर की ऑख खोलो। देखो, भीतर क्या दिख रहा है ? सम्राट् आनन्द से भीग उठा। सिर्फ इतना ही कहा, कृतपृण्य हुआ भगवन्। संत ने कहा, जाओ, शासन चलाओ। जो मूरत निज में निहारी है, उसे सब में देखो। सबसे प्रेम करो, सबकी सेवा करो, सर्वत्र प्रभु के दर्शन करो, बस यही ध्यान रखो।

जीओ ऐसे लोगों के साथ जिन्होंने जीया है जीवन को, जाना है जीवन के सार को। जीवन्तता का विस्तार ही सत्सग है। जीवन-रूपान्तरण के लिए ꣳ जरूरी है। पहला सूत्र होगा—जीओ उनके साथ जिनका दीप रोशन है। दूसरा सूत्र—पीओ उनकी वाणी, जिनकी प्यास बुझ चुकी है। सुनो, सम्यक् प्रकार से श्रवण करो। अध्ययन करो, सम्यक् प्रकार से स्वाध्याय और मनन करो। अन्तर्मन में उतरो। ध्यान धरो। गीत गुनगुनाओ। जीवन को स्वर्ग बनाओ। भौतिक साधनों/मशीनों का उपयोग करो, पर उनके गुलाम मत बनो। महावीर कहते हैं श्रावक बनो।

जैन लोग अपने आराध्य को तीर्थकर कहते है। कभी सोचा है कि तीर्थकर का क्या मतलब होता है ? तीर्थकर का अर्थ है—वह जो तीर्थ का निर्माण करे। श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी इन चारो के समूह को तीर्थ कहते हैं। शुरुआत है श्रावक से। श्रवण से धर्म की शुरुआत। जो अच्छी बातों को सुने, वह है श्रावक। श्रावक महावीर के धर्मसघ की नींव है। श्रमण धर्मसघ का स्तम्भ है, पर श्रावक तो नींव है। श्रावक श्रमणत्व का पूरक है। व्यक्ति श्रावक न हुआ, तो श्रमणत्व अतिशय रस से आपूरित नहीं हो सकता। यात्रा की शुरुआत पवित्र और दिव्य किताबों के श्रवण से, सुनने से, सत्सग को जीने से है। इसलिए श्रावक बनना कठिन होगा। मनोयोगपूर्वक सत्सग सुनना बहुत कठिन है। सत्सग सुनने के लिए एक आसन मे तुम बैठ भी नहीं पाओगे। मन उचटेगा, सो अलग। मनोयोगपूर्वक शास्त्र श्रवण कर लो, तो तुम श्रावक तो अपने आप हो जाओगे। क्योंकि जो चीज मन में उतर गई, वह जीवन मे अपने आप आचरण मे भी आएगी। वह चीज अपने आप घटित होगी। तुम श्रावक बनो। मनोयोगपूर्वक सत्सग मे उतरो।

'श्रावक' जन्मजात नहीं होता। श्रावकत्व को तो जीवन मे उपार्जित करना पड़ता है। तुम जन्मजात जैन तो कहला सकते हो, लेकिन जन्मजात श्रावक नहीं हो सकते। श्रावक तो उसकी गुणात्मकता का पालन करना है। श्रावक का 'श्र'

श्रद्धा से सम्बन्धित है, 'व' विवेक का वाचक है और 'क' क्रिया से जुड़ा है। श्रावक का अर्थ है सम्यक् श्रवण करने वाला। श्रावक यानी वह, जो उन लोगों को सुनता है जिन लोगो ने 'उपलब्ध' कर लिया है।

गुरुजनों के पास बैठकर उनके दिव्य संदेशो को सुनना अपने आप मे गंगास्नान है। गगा वह है जो गुरुजनो के मुख से निःसृत होती है। ज्ञानगगा से बढ़कर है। गुरु के चरण गंगा के घाट हैं और गुरु की वाणी स्वयं गंगा है। मेरा तुम्हें गंगा-स्नान का आह्वान है। सूत्र है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे।।

प्रभु कहते है कि पहले तुम श्रावक बनो। सुनना ही तुम्हारे जीवन की अस्मिता होनी चाहिए; सुनना ही तुम्हारे जीवन का पहला धर्म हो जाना चाहिए। महावीर की साधना का पहला मार्ग दर्शन, ज्ञान या चरित्र नहीं है। उनकी साधना का पहला मार्ग सम्यक् श्रवण है। सुनो, पूरी तरह से सुनो। बिना सुने न तो तुम कल्याण-अकल्याण के मार्ग को जान सकते हो और न ही पाप-पुण्य में भेद ही कर सकते हो। मैं आचरण की बजाय सर्वप्रथम इस बात पर बल देता हूँ कि सुनो, सुनने के बाद जानो, जानने के बाद जो सही और उचित लगे, उस मार्ग पर अपने कदम बढ़ाओ। जो सुना है, उस पर संदेह है, तो ज्ञानीजनों से उसका समाधान करो।

तो तुमने सुना कि सुनना भी धर्म का कितना दिव्य मार्ग है ? सुनना भी मार्ग बन सकता है तुम्हारी साधना का, ज्ञान का, समाधि का। राजा जनक महर्षि अष्टावक्र की गीता को सुनते-सुनते समाधि को उपलब्ध हो गए थे।

गांधी ने तीन बदरों की चर्चा की है। बड़े प्रतीकात्मक हैं ये तीन बन्दर। बुरा मत सुनो, बुरा मत बोलो, बुरा मत देखो। यह बहुत गहरी बात है। पर मै इसमे थोड़ा परिवर्तन भी करना चाहूँगा। मै कहूँगा—'सही और सुन्दर सुनो, सही और सुन्दर देखो, सही और सुन्दर बोलो।'

केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि किसी चौराहे पर गांधी के तीन बंदरो को सजा दो। यह तो आधी बात हुई। बुरा मत सुनो—यह एक पक्ष हुआ, लेकिन सही सुनो- यह दूसरा पक्ष हुआ; बुरा मत देखो यह एक पक्ष हुआ, लेकिन सही देखो

यह दूसरा पहलू हुआ। केवल बुरा न सुनने से ही यात्रा पूरी न होगी, अच्छा भी सुनना होगा। सुनो तो सिर्फ सुनो। यह निर्णय करने की जरूरत मत समझो कि जो कहा जा रहा है, उसमे कितना सत्य है और कितना असत्य है। यहॉ अपने मन या दिमाग को नहीं, अपने हृदय को लाने का प्रयास कीजिएगा, ताकि उसमे कुछ उॅडेला जा सके। अगर मन को यहॉ लाओगे तो मन तर्को को जन्म देगा; अगर दिमाग को लाओगे तो वह प्रश्न खड़े करेगा। नतीजतन तुम भी न सुन सकोगे, कुछ भी न पा सकोगे। दिमागी उधेडबुन मे ही उलझे रह जाओगे।

बेहतर होगा, सभामण्डप मे आप जहॉ पर अपने जूतो को खोलकर आते हैं, वहीं अपने मन और दिमाग को उतारकर भीतर प्रवेश कीजिए। अगर एक बार जूते यहॉ तक ले आए तो कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन कम-से-कम अपने मन को यहॉ तक लाने का प्रयास मत कीजिएगा। मदिर मे भी जूते ले जाना उतना दोषपूर्ण नहीं है, जितना कि अपने मन मे बसे हुए स्वार्थ के ससार को ले जाना दोषपूर्ण है।

श्रावकत्व को सही रूप में अंगीकार कर जब तुम सुनते हो, तो अन्तर-हृदय में सत्य ही प्रवेश करता है। जो अनुचित है, वह तो स्वतः बाहर रह जाता है। अन्तस्-मेधा सत्य को ही स्वीकार करेगी, असार तो खुद ही छिटक जाएगा। वही आपके लिए सत्य होगा जो सत्य आपके हृदय मे प्रवेश कर जाये, क्योकि पॉव हमेशा सत्य के होते है। असत्य के कोई पॉव नहीं होते। असत्य हृदय तक जाने से पहले ही लड़खड़ाकर गिर पड़ता है।

हर व्यक्ति का अपना-अपना हृदय होता है और अपना-अपना सत्य होता है। आपके लिए वही सत्य है, जो आपके हृदय की मुरझायी कली को खिला दे। सूरज की किरण वन जाए। मर्म को छू दे। हृदय को रूपान्तरित करे। एक घटा सुनने के दौरान सारी की सारी बाते हृदय तक प्रवेश नही करतीं; सारी बाते हृदय को खिलावट नहीं दे पातीं। मेरे कहे हुए सत्यों में से वही सत्य आपके हृदय मे प्रवेश करेगा, जो आपके लिए 'सत्य' है। शेष सत्य बीच में ही रह जाता है। असत्य तो एक लाश की तरह पड़ा रह जाता है, लेकिन सत्य एक ऊर्जा की तरह, एक अस्तित्व की तरह आपके भीतर प्रवेश कर जाता है, उसे प्रवेश करने दीजिए।

अगर मन, तर्क या ऊहापोह को बीच में लाऍगे, तो सत्य बीच में ही लुट जाएगा। आप सोचेंगे कि संतप्रवर ने ऐसा क्यों कहा, ऐसा क्यों नहीं कहा। (अगर

केवल तर्को को बीच में लाते रहे, तो पण्डित बन जाओगे, प्रवचन मे निष्णात हो जाओगे, लेकिन भीतर में कहीं कोई रूपान्तरण नहीं होगा। मै आपको पंडित नहीं बनाना चाहता। मैं तो प्रज्ञा देना चाहता हूँ। मै आपको ज्ञान मे दक्ष नही करना चाहता, वरन्, जीने की कला से वाकिफ करना चाहता हूँ। ऐसा जीवन, जो शांत मन हो, उत्फुल्ल हृदय हो, निर्मल आत्मा हो।

तुम ज्ञानी बनो, ज्ञान का, साक्षरता का उपयोग है। पर कोरी पंडिताई न आ जाए। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भये न कोय'। अपना ज्ञान वह है, जो हमें आत्मसात् हो जाए, हममे चरितार्थ हो जाए, बाकी सारा ज्ञान, ज्ञान के नाम की पडिताई है।

मैने सुना है : एक पंडितजी थे, जिन्होंने शास्त्रों को अक्षरशः रट रखा था। एक दिन वे सत्यनारायण की कथा बाँचने लगे। उनके सम्मुख बहुत सारी भीड़ जमा थी। जब सत्यनारायण की कथा बाँचते हैं तो बड़ा रस आता है। पंडितजी को जर्दा-खैनी खाने की आदत थी, सो बाँचते-बाँचते उनके मुँह से लार टपक पड़ी। लार सत्यनारायण की कथा पर, उस शास्त्र पर जा गिरी। लोगों ने टोका, कहा—'पंडितजी ज़रा ध्यान रखिए। यह जो लार टपक रही है, इससे दोष लगता है।'

पंडितजी को ध्यान आया। उन्होंने अपनी बात को सँवारते हुए, सफाई देते हुए कहा—'यह लार नहीं है। यह तो सत्यनारायण की कथा सुनकर स्वय माँ भागीरथी यहाँ तक चली आई है। यह तो साक्षात् गंगोत्री है', कहकर वे कथा पढ़ने मे लग गये। दो-चार लड़के उठे और अपने घर चल दिये। वे लौटकर आये और कहा—'पंडितजी, कथा पूरी हो चुकी है, अपना मुँह खोलिए।' पंडितजी ने मन-ही-मन सोचा कि कुछ स्वादिष्ट मिठाई होगी। उन्होने अपना मुँह खोला। लड़को ने डिब्बे मे से कुछ निकाला और पडितजी के मुँह मे डाल दिया।

पंडितजी को लगा—'लड़को ने शरारत की है। उन्होने झट से थूका, बोले—'यह क्या है?' लड़के बोले—'कुछ नही पंडितजी। यह तो मेरी मृत दादी माँ के फूल हैं।' पंडितजी ने कहा—'क्या मतलब? क्या अपनी माँ की अस्थियो को डालने के लिए तुम्हें मेरा मुँह ही मिला।' लड़के बोले—'अब काशी और हरिद्वार जाने की जरूरत ही क्या है, जब गंगा यहीं प्रकट हो गई। सो हमने अपनी माँ की अस्थियो को आपकी गंगा मे ही विसर्जित करने का संकल्प कर लिया।'

ज्ञान तो वह है जो आदमी को विनम्र बनाए। जो घमड दे, वह ज्ञान नही, ज्ञान की बदहजमी है।

सत्संग ज्ञान का आधार है। पर एक ऐसा आधार जो हमे विवेक दे, समझ की दृष्टि दे। सत्सग को अपने जीवन मे जीने का पहला सूत्र है: दिव्य पुरुषो के मुख से पवित्र किताबो की बाते सुनो। यदि गुरुजनो का सयोग न मिले, तो तुम स्वय ही उन दिव्य पुस्तको को पढ़ो, उनका स्वाध्याय-आचमन करो। दूसरी बात यह है कि सज्जन और भले लोगो के साथ अपनी मैत्री रखो। अच्छे लोगों के साथ उठो-बैठो-जिओ। अगर लगे, कि दुर्योग से किसी बदचलन व्यक्ति का साथ हो गया है; तो उससे अपने आपको मुक्त करने का साहस बटोरो। ध्यान रखो कि पानी की बूॅंद सर्प के मुॅंह मे उतरेगी, तो जहर बनेगी, वही सीप के मुॅंह मे उतरेगी तो मोती बन जाएगी। सोहबत का तो असर आएगा ही। सीधी-सादी बात यह है कि अच्छे लोगो के साथ जिओगे, तो अच्छे बनोगे। बुरो का साथ तुम्हे बुरा बनाकर ही छोड़ेगा। प्रभव को डाकुओ का साथ मिला तो वह डाकू बना। जम्बू का साथ मिला, तो सत बना। डाकुओं के खेमे मे रहने वाला तोता कहेगा—'लूटो-लूटो।' सज्जनों के घर पर रहने वाला तोता 'स्वागतम्-स्वागतम्' का स्वर उच्चारित करेगा।

सार बात इतनी है कि यह जो सत्सग का रस है, सत्सग का रंग है, इसमे रंगते चले जाओ। बाहर के कपड़े रगे या न रंगे, कोई खास बात नहीं, भीतर का मन रग जाना चाहिए। 'मन न रगाए, रगाए जागी कपड़ा।' केवल बाहर से ही कपड़ों को रंगते चले गए, तो बाहर से आप सब लोग साधु हो जाओगे, श्रावक हो जाओगे, मगर भीतर कोरा रहेगा। अन्तर्मन, कुछ भी न बदलेगा।

> माना कि जो भी चाहे
> बाग लगा सकता है।
> लेकिन वह फूल
> किसके उपवन में खिलता है,
> जिसके रग
> तीनों लोकों की याद दिलाते है,
> और जिसकी गध पाने को
> देवता भी ललचाते हैं।

धन की, पद की, प्रतिष्ठा की बगिया हर कोई लगाता है, पर वह फूल किसकी बगिया मे खिलता है, जिसकी सुवास पाने को देव भी ललचा उठे। हॉ, यह फूल सत्संग का है जिसे पाने को देवता भी आतुर रहते हैं। किसी महावीर का सत्संग हो, बुद्ध या राम का सत्संग हो, स्वाभाविक है कि देवता ललचाएँ। जिदगी में जब कभी ऐसा अपूर्व अवसर मिले, सत्संग का, सत्संग की सुवास पाने का, सत्संग का प्रकाश पाने का, तो चूकना मत। उसमे एक डुबकी लगा ही लेना। सम्भव है, तुम्हारी यह डुबकी तुम्हें पार लगा ही दे, तुम्हें निर्मल सुमनस् बना दे, तुम्हें मुक्त कर दे।

सत्संग हो सत्पुरुष का, ज्ञान-वृद्ध का, अनुभव-वृद्ध का, ज्योतिर्मान दीप का। लार को गंगा कहने वालों से बचो। सार-सार को लहो, शेष से हमें क्या प्रयोजन ! कथाएँ कई दफा सुन लीं, चर्चाओं में उन कथाओं का उपयोग भी करते रहे, पर अन्तर रूपान्तरण के बगैर ज्ञान व्यर्थ ही गया। रूपान्तरण से अछूते रहे, तो स्पर्श किस चीज का क्या किया। 'तोता रटन्त विद्या' को कब तक दुहराते रहोगे ? सूत्रों को बातों में दुहराकर कब तक अपने वैदुष्य की मुहर लगाते रहोगे।

सुनो, सम्यक् प्रकार से सुनो। मुझे सुना, हृदय में प्रवेश दिया, अभिवादन। चन्द्रप्रभ से आपको प्यार है, उसके प्रति सम्मान है। पर शाम को फुरसत के क्षणों में, अगर न हो तो फुरसत निकालकर, सुने हुए का मनन करें। जीवन में उसका सन्तुलन बैठाएँ, समायोजन करें। सुना हुआ कितना व्यावहारिक हो सकता है। उसे व्यवहार में लाएँ, तालमेल बैठता न लगे, तो मुझसे सम्पर्क करें। चर्चा करें। सत्संग का जीवन में समायोजन हो, तो ही सत्संग अर्थवान्, मूल्यवान है। श्रवण का मनन-निदिध्यासन हो, तो ही सत्संग, सत्संग है। 'सो गंगोदक होय' गंगा में डुबकी लगाओ, सत् का अवगाहन करो, तो नाला नदी बनेगा और नदी सागर।

कबीरा गंदी कोटची, पाणी पीवै न कोय।
जाय मिलै जो गग में, सो गगादेक होय।।

लो हम अपने को सत्संग की गंगा मे उतरने दें। गंगा गंगासागर हो जाएगी। अपनी पलकों को मूँदो और अन्तर्हृदय में उतारकर सत्संग के इस गंगोदक का आचमन करो। आनन्दित रहो।

❑

मन का बोझ : दिशा की तलाश

मनुष्य का मन वडा अद्भुत है। ससार का यह वडा लीलाधर है। यह ऐसी-ऐसी लीलाएँ रचता है, ऐसी-ऐसी अठखेलियाँ खेलता है कि आदमी के लिए यह वड़ा अजूवा और वडा अद्भुत वन चुका है। मनुष्य का मन ही ससार का आधार है, यही मुक्ति का मेरुदण्ड है। संसार मे अगर नरक का कोई सेतु है तो वह मनुष्य का मन है और अगर स्वर्ग का कोई हेतु है तो वह भी मन ही है। चाहे सुख हो या दु:ख, पाप हो या पुण्य, मलीनता हो या निर्मलता—यह मनुष्य का मन ही तो है, जो इन सव चीजो की पृष्ठभूमि मे रहता है। अधेरा है, तो भी मन के कारण है और उजाला है, तो भी मन के कारण है।

मनुष्य का वोझिल हो चुका मन उसके जीवन के लिए अभिशाप है और आनदित हृदय से जीया गया जीवन मनुष्य के लिए वरदान है। जो अपने जीवन को वे-मन से जीता है, उसके लिए जीवन ईश्वर की सौगात है। मनुष्य का जीवन ही जीवन के लिए टोकर वन जाता है और उसका जीवन ही जीवन के लिए उद्धारक हो जाता है। इन सवके पीछे बैठा हुआ है आदमी का वह मन जो दिन-रात स्वर्ग और नरक की, बधन और मुक्ति की, पाप और पुण्य की उतार-चढ़ाव भरी घाटियों से गुजरता रहता है। अगर आदमी दुनिया मे किसी के वारे में न सोच पाया, न समझ पाया, न बोध प्राप्त कर सका है, तो वह आदमी का अपना मन है।

अगर जीवन को बोझिल मन से जीया जाए तो जीवन बड़ा अमगलकारी हो जाएगा। आनंदित हृदय के साथ जीवन को जीया, तो जीवन से बढ़कर कोई उपहार हो ही नही सकता। इस जीवन के सम्मुख दुनिया भर की सपदाएँ तुच्छ और नगण्य हैं। कोई भी आदमी अपनी पीठ पर बोझ तभी लादना चाहेगा, जब वह उस बोझ को एक जगह से अन्य जगह पहुँचाना चाहता हो। जरूरत पड़ने पर आदमी अपने कंधे का उपयोग भी करता है, पर व्यर्थ मे कौन आदमी अपनी पीठ पर भार ढोएगा ! रात मे जब तकिया लगाकर सोते हो, तो यह सोच रहती है कि इससे बड़े चैन की नींद आती है, पर जगने के बाद तो वह तकिया भारभूत बन जाता है। वे तो दुनिया में मुल्ला नसिरुद्दीन जैसे लोग ही होते है, जो कि दिन में भी तकिये को अपने सिर पर लगाकर घूमते हैं। अगर आप मुल्ला नसिरुद्दीन हो, तो बात और है, वरना कौन आदमी ढोना चाहेगा अपनी पीठ पर व्यर्थ का बोझा !

मैं यही संकेत देना चाहता हूँ कि आदमी अपने मनो-मस्तिष्क मे न जाने कितनी-कितनी अनर्गलताओं को स्थान दिये हुए है। मनुष्य के पास धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, मगर नहीं है तो चैन नही है, शांति नही है, निर्भार होने का उपाय नहीं है। जिसका मन शांत है, बोझ से मुक्त हो चुका है, वह व्यक्ति जीवन में मुक्ति को जी रहा है। वह मुक्ति नहीं चाहिए, जो आदमी को मृत्यु के बाद नसीब हो। मुक्ति का वह रसास्वादन चाहिए, जिसका अनुभव हम जीते-जी कर सके। वह व्यक्ति अपने जीवन मे मुक्ति का रसास्वादन कर सकेगा, जिसको अपने मन का भार नीचे उतार फेकने की दिशा मिल चुकी है।

ज़रा अपने मन की ओर झाँक कर देखो कि क्या आपका मन दो मिनट के लिए भी शांति का सुकून देख रहा है ? क्या आप अपने मन में कुछ पलों के लिए भी मुक्ति का माधुर्य जी रहे हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे दिमाग में बहुत सारी घुटन, बहुत सारा तनाव इस कदर हावी हो चुका है कि हम रात को नींद भी नहीं ले पाते ? आज दुनिया में शरीर से रुग्ण कम है, मन से रुग्ण ज्यादा हैं। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि दुनिया का हर सातवॉ आदमी मन से रुग्ण है और मन को ढंग से पढ़ो तो लगता है कि दुनिया का हर आदमी मन का रोगी है।

एक आदमी तो प्रकटतः पागल होता है, जो चौराहे पर बैठकर गाली-गलौच करता है। दूसरा आदमी छिपा हुआ पागल होता है। हम थोड़ा साहस तो जुटाऍ

ताकि अपने भीतर के पागलपन को समझ पाएँ। इसके लिए कई प्रयोग हैं। जिसको समझा जाता है कि वह बड़ा सभ्य, सस्कारशील और कुलीन है, उसे बतौर प्रयोग थोड़ी-सी शराब पिला दी जाए और बद कमरे मे उसके सम्मुख एक टेपरिकॉर्डर रख दिया जाए। फिर देखे, वह क्या करता है, क्या कहता है? मनुष्य अपने पागलपन को छिपाकर-दबाकर रखता है। भीतर न जाने कितने-कितने अहकार, तनाव और घुटन भरे हुए है। जो व्यक्ति अपने भीतर की अशाति, फूहडता को आज तक भी न समझ पाया है, वह यह प्रयोग कर ही ले, मालूम पड ही जाएगा।

आदमी मानसिक यातनाओ के दौर से गुजर रहा है। अपने मन-मस्तिष्क मे इतना तनाव, इतनी घुटन, इतने विकार और इतनी विकृतियाँ भरी हुई है कि आदमी सोच ही नहीं पा रहा है कि वह जीवन को कैसे जीए? आदमी अगर कार्य भी कर रहा है तो बडे बेमन से करता है, जीवन को जीता है, तो भी बड़े बेमन से जीता है। मै अपनी ओर से यही निवेदन करना चाहता हूँ कि आदमी हर कार्य को बडे मन से करे, बडे उत्साह से करे। अगर उत्साह और उमंग के साथ आप अपना कोई भी कार्य करेंगे, तो वह कार्य अपने आप मे जीवन की प्रार्थना बन जाएगा।

एक दफा संत विनोवा भावे अपनी कुटिया के बाहर झाडू लगा रहे थे कि किसी शिष्य ने पूछा—'गुरुवर, आप यह क्या कर रहे है?' विनोबाजी ने कहा—'माला फेर रहा हूँ।' शिष्य चौका। उन्होने कहा—'जितनी बार झाडू आगे सरक रहा है, उतनी ही वार मै राम का नाम ले रहा हूँ। मेरे द्वारा झाडू लगाना भी अपने आप में परमात्मा की प्रार्थना है।' ऐसे ही जब विनोबाजी से एक बार पूछा गया कि आप क्या कर रहे हैं ? वे झाडू लगा रहे थे, कहा—'मै अहिसा का आचरण कर रहा हूँ।' आश्चर्य, झाडू लगाने के साथ ही अहिसा का आचरण ? हॉ, मैं वड़े ध्यानपूर्वक झाडू लगा रहा हूँ। यह मेरी ओर से अहिसा का आचरण है। व्यक्ति का कार्य भी अपने आप मे अहिंसा का आचरण बन सकता है।

आप गेहूँ का उपयोग करते है, पर खेती नहीं करते, क्योकि आप सोचते हैं कि इससे हिसा का आरम्भ-समारम्भ ज्यादा होगा। इस बारे मे मै थोड़ा-जिक्र करना चाहता हूँ कि एक अहिसक व्यक्ति जितनी सावधानी से खेती कर पाएगा, इतनी सजगता से एक किसान नहीं कर पाएगा, इसलिए आप जैन है तो केवल हीरों या कपडो का ही धंधा न करें, वरन् हर जैन अपने कधे पर हल उठाए और

अपनी खेती खुद करे। अहिंसक व्यक्ति के द्वारा की गई खेती भी अहिंसा का आचरण है।

आदमी को यह बात समझ ही लेनी चाहिए कि वह अपना हर कार्य इस तरीके से करे कि वह जीवन की प्रार्थना बन जाए। भारभूत मन से किया गया कार्य व्यक्ति के लिए बंधन की बेड़ी बन जाता है। उमंग और उत्साह से किया गया कार्य व्यक्ति के लिए मुक्ति का द्वार बन जाता है। आप जो भी कार्य कर रहे होते है, वह अपने आप मे हमारी प्रतिध्वनि होती है। उसमें साफ-साफ झलक दिखाई देगी कि वह कार्य आप मनोयोगपूर्वक कर रहे है या लापरवाही से। लापरवाही से किया तो असफलता ही हाथ लगेगी और मनोयोगपूर्वक किया तो सफलता सहचर बनेगी।

भोजन करो तो सिर्फ भोजन करो। उस समय दुकान के बारे मे मत सोचो। तब केवल हाथ या जीभ से ही नहीं, मन से भी भोजन करो। जब दुकान मे बैठे हो, तो तन से ही नहीं मन से भी दुकान मे बैठो। दुकान मे रहो, तो घर के बारे मे मत सोचो। इसी तरह मंदिर भी जाओ तो तन से ही नहीं, मन से भी मदिर मे प्रवेश करो। जिस किसी भी कार्य को बड़े मनोयोग से किया जाए, वह हर कार्य अपने आप मे प्रार्थना और सिद्धि का आधार बन जाता है।

आदमी करता है कुछ, सोचता है कुछ। मन मे उधेड़बुन चलती रहती है। आदमी रात को सोता है, तो सोता कम है, सपने ज्यादा देखता है। आँखों-आँखों में सारी रात गुजर जाती है। यह मनुष्य का रुग्ण मन है। जब सोओ, तो बड़े मन से सोओ। लोग पूछते हैं कि जब आप सोते हैं तो क्या बड़े चैन की नींद आती है? मै कहता हूँ—हॉ, मैं रात भर सोता हूँ और एक भी करवट नहीं बदलता। रात भर करवटें वह बदलेगा, जिसके मन मे बेचैनी है। जो अपने मन को हर ओर से अनासक्त करके सोता है, अपने हृदय को निर्भय करके सोता है, अपने चित्त को प्रतिक्षण शांत और मौन रखता है, वह व्यक्ति जब सोता है तो केवल सोता है। मैं जब सोचता हूँ तो केवल सोचता हूँ और सोता हूँ तो केवल सोता हूँ। एक मन, एक कार्य !

हमारा हर कार्य प्रकट करता है कि हम वह किस मन से करते हैं। काम कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। मैंने हीरो के व्यापारी देखे हैं तो ऐसे लोगो से भी मेरा वास्ता पड़ा है जो रद्दी खरीदते-बेचते करोड़पति बने हैं। तुम किस कार्य का

किस मनोयोग के साथ कर रहे हो, यही वात खास है। अगर लगता हो कि किसी कार्य को करने से सफलता नहीं मिल रही है, असफलता ही मिल रही है, तो अपने कार्य को मत वदलो, अपने मन की दशा और दिशा को वदल डालो। अगर मन की दशा सुधरती है तो कार्य के प्रति हमारे मन में रहने वाली लगन की भावना अपने आप वदल जाएगी। अगर आप आईना देखते हें और उसमे चेहरा भद्दा दिखाई दे, तो क्या आप आईना वदल लेगे? नहीं, आईने वदलने से चेहरे नहीं वदला करते। चेहरे को ही वदलना होगा। जरा मुस्कुराकर आईने मे देखो, तुम्हे आईना भी हँसता-मुस्कुराता नजर आएगा। ध्यान रखे, हमारा हर कार्य हमारा आईना होता है।

अगर आप पढाई करते है, तो वडे मनोयोग से पढें। मुझे याद है, उस समय मै वमुश्किल आठवीं या नवीं मे रहा होऊँगा। कक्षा मे द्वितीय श्रेणी से मै उत्तीर्ण हुआ। घर पहुँचा और अंकतालिका घर वालो को सुपुर्द की। पिताजी ने कहा—द्वितीय श्रेणी उत्त्तीर्ण होने से तो अच्छा है, चुल्लू भर पानी मे डूव मरता। मुझे पिताजी की वात पर आश्चर्य हुआ। आज जव मै इस वात पर चितन करता हूँ तो पाता हूँ कि साल भर अगर श्रम किया, फिर भी अगर द्वितीय श्रेणी आए, तो मेहनत हुई ही कहॉ! हर विद्यार्थी प्रथम श्रेणी से ही उत्तीर्ण हो। हमे अपने मन की दशा को सुधारना होगा।

अगुली पर गिनी जा सकें, ऐसी ही कुछ वाते निवेदन करूँगा। पहली वात यह है कि हर कार्य को वडे मन से करो ताकि वह कार्य तुम्हारे लिए मुक्ति का द्वार वन जाए। मैंने उस नरक को तो नहीं देखा जो किसी पाताल मे बना हुआ है, लेकिन उस नरक को जरूर देखा है जो मनुष्य के मन मे पलता है। मैने देखा है कि वह नरक आदमी के अन्तर्मन में वसता है। बंधन को भी देखा है और मुक्ति को भी देखा है; पाप को भी देखा है और पुण्य को भी देखा है; कमो को टूटने हुए भी पाया है और वनते हुए भी देखा है। इन सबके पीछे बैठा हुआ है मनुष्य का अपना मन। उस मन तक ही पहुँचने के लिए कहूँगा कि मन मे जो-जो वोझ है, वे उतरकर नीचे आ जाऍ। जीवन को जीयो, बडे प्रमुदित भाव से जीओ, वरदान मानकर जीओ। होगा किसी के लिए जीवन चार दिन का, हमारे लिए तो जीवन पूरे सौ साल का है। हम बडे आनद के साथ, बड़ी पवित्रता के साथ, बड़ी सरलता और सौम्यता के साथ उसे जीऍ।

मैंने सुना है : एक छोटी बच्ची अपने छोटे भाई को अपने कंधे पर बिठाए हुए एक पहाड़ी पर चढ़ी चली जा रही थी। बच्ची दस-बारह साल की थी, तो भाई चार-पाँच साल का। रास्ते में उसे एक और राहगीर मिला। राहगीर ने जब बच्ची को देखा तो कहा—'अरे, तेरी पीठ पर तो बड़ा भार है।' यह सुनते ही बच्ची ने नज़र ऊपर उठाकर उस राहगीर को देखा और कहा—खबरदार, जो इसे भार कहा। तुम्हारे लिए यह भार होगा, मेरे लिए तो यह भाई है। उसने झट से अपने कंधे से उसे उतारा, उसका माथा चूमा और उसे पीठ पर बिठाकर तेज रफ्तार से आगे बढ़ चली। जिसने मान लिया कि यह भार है, उसके लिए वहीं थकावट आ गई और जिसने भार को भी भाई मान लिया, उसके लिए भार, भार न रहा, उत्साह का आधार बन गया।

अगर आम आदमी के मन को थोड़ा बारीकी से पढ़ो तो लगता है कि आदमी के मन का पहला बोझ उसके मन में दिन-रात पलने वाली चिंताएँ होती हैं। आदमी सोचता है, दिन-रात सोचता है। जिस बिंदु पर जब सोचना हो, तभी सोचना चाहिए। वह सोचना तो व्यक्ति के लिए चिंतन है और जब नहीं सोचना हो, तब भी सोचना 'चिंता' है। आदमी की स्थिति तो देखो कि कोई आया हमारे घर, खूब उससे बातें कीं, इधर की उधर की। जब वह चला गया तो सोचते है कि अरे यार, मैने ऐसा क्यों कहा? अगर मैं ऐसा कहता तो बड़ा अच्छा रहता। कोई बात नहीं, कल जब वह मिलेगा तो मैं ऐसा नहीं, ऐसा कहूँगा..... यह बाद मे जो सोचा जा रहा है, यही व्यक्ति के लिए मन का पाप है। अज्ञानी लोग ही यह पाप किया करते है। ज्ञानी लोग ऐसे 'चिंतन' से सदा अपने को दूर ही रखते है।

अब तक जो भी सुना, वह सुनार की हथौड़ियाँ थीं। अब तो मौका आया है जब लोहे की हथौड़ी काम करेगी। सुनार की हथौड़ी काम नही कर पाई, इसलिए तो जन्म-जन्मांतर हम सब भटकते रहे। जीवन मे मिले ऐसा कोई सद्गुरु कि जो टिका ही दे लोहार के दो-चार हथौड़े और उतार ही दे लोहे पर जमी हुई जंग। अब तक लोहा सोना नहीं हो पाया तो इसलिए नहीं हो पाया कि लोहे पर चढ़ा हुआ जग नहीं उतर पाया। नतीजा यह निकला कि लोहा एक बार नहीं, सौ-सौ बार पारस के पास पहुँचा, मगर फिर भी लोहा सोना न बन पाया। इसीलिए तो यह सोचने के लिए मजबूर करना चाहता हूँ कि आप सोचें, खोट कहाँ है, लोहे मे या पारस मे ?

आदमी सोचे, मनन करे। मनन से ही धर्म का जन्म होता है, अध्यात्म का उदय होता है। मनन से ही पता चलेगा कि हॉ, हमारे ऊपर ऐसा जग चढा हुआ है कि जो सौ-सौ वार परमात्मा के द्वार पर जाने से भी नहीं उतरा। महावीर और वुद्ध के वोधिलाभ का सान्निध्य भी पाया होगा, मगर जग न उतरा। खुद का लोहा तो दिखाई देता रहा, मगर जग नज़र न आया। यह जग चिता का जग है, कषायों का जग है, जो चिंतन से ही उतर सकता है।

मैंने वहुत मुर्दे नहीं जलाये, एकाध ही जलाया होगा, लेकिन उस एक मुर्दे को जलाकर भी मेरी चेतना जाग्रत हो गई, मैंने जान ही लिया देह का धर्म और उसका परिणाम, जिस देह के लिए आप मरते-मिटते है। मैने जव एक मुर्दा जलाया तो इतना परिवर्तित हो गया। आपने तो अनेकानेक मुर्दो को जलाया होगा अत. आप वहुत वदल गये होंगे। चिता हमारे लिए तनाव और घुटन का कारण वनती है। आदमी सोचता है उसके वारे में जो गुजर चुका है, अतीत हो चुका है या जो अभी तक आया नहीं हे। अगर सोचना ही है तो वर्तमान के बारे में सोचो, वर्तमान के साक्षी और विकासमान वनो। जो वीत चुका है, वह लौटकर नहीं आएगा।

कुछ वर्ष पूर्व की वात है। हमारा मद्रास में प्रवास था। जिस स्थान पर प्रवास था, वहॉ के सघ का मुखिया उपाश्रय मे सोता था। वह रात भर अपनी स्वर्गीय पत्नी को याद करता रहता कि तू तो मर गई, मेरा जीना हराम कर गई। सोचे, जो वीत चुका, उसके वारे में सोचने का अर्थ ही क्या रह जाता है ! जो अभी तक नहीं आया, उसके वारे में भी कल्पनाऍ कर लेने भर से क्या होगा ! जो आएगा, तव देखा जाएगा।

वीत गई सो वात गई, तकदीर का शिकवा कौन करे,
जो तीर कमा से निकल चुका, उस तीर का पीछा कौन करे।

जो वात खत्म हो चली, उसके वारे मे क्या सोचना, कैसी उधेड़बुन ! आदमी का सोचा हुआ कहॉ पूरा हो पाता है ? होनी प्रबल है, उसे टाला नहीं जा सकता और अनहोनी कभी होती नहीं। तो फिर होनी-अनहोनी मे कैसा हस्तक्षेप ! सदा सहज रहें, आनंदित रहें। मैं बहुत आनदित रहता हूॅ और आनदित रहने का राज़ यह है कि न बीते के बारे मे सोचो और न आने वाले कल के बारे में बड़े-बड़े ख्वाब ही देखो। एक वात हृदयंगम हो जाए कि जो हमे जन्म देता है, वह जन्म

हमे बाद मे देता है, हमारे जीवन की व्यवस्था पहले करता है, हमारे जन्म से पहले मॉ की छाती दूध से भर देता है। फिर हम आने वाले कल के बारे मे क्यो इतने चिंतित रहें ? आने वाले कल की व्यवस्था स्वतः होगी। जो जीवन देगा, वह जीवन की व्यवस्थाऍ भी करेगा। फिर जो अच्छा हुआ, वह भी ठीक और जो अच्छा नही हुआ, वह भी ठीक। हृदय में एक संदेश, एक बोध उतर ही जाने दो--'जो होता है, अच्छे के लिए होता है।' यह मंत्र भीतर रग-रग तक उतर जाने दो।

बचपन की बात है। जब मैं छोटा था, तो माँ गुरुजनो के पास जाती थी, उनका प्रवचन सुनती थी और घर आकर बताया करती थी कि बेटा, आज गुरु महाराज ने यह कहा। तब माँ ने मुझे एक छोटी-सी कहानी कही, जिसने मुझे हर पल प्रेरणा दी है। कहानी का सार इतना ही है कि एक राजा था। एक दिन राजा की एक अंगुली कट गई। उसने मत्री को यह बात बताई तो मत्री ने कहा—महाराज, जो भी होता है, अच्छे के लिए ही होता है। यह सुनते ही राजा आग-बबूला हो गया। उसने मंत्री को कैद मे डलवा दिया। अगले ही दिन राजा शिकार के लिए गया। राजा के कारिंदे और साथी शिकारी पीछे छूट गए। वह जंगल मे अकेला रह गया और रास्ता भटक गया। साँझ घिर आई, तभी कुछ आदिवासियो ने राजा को आ घेरा।

आदिवासियो के लिए राजा, राजा नही होता है। उसे तो वह भी जंगली ही दिखाई देता है। उन्होंने राजा को पकड़कर कारागार में डाल दिया क्योंकि सुबह बलि देनी थी। अगले दिन देवी के आगे बलि की तैयारी की गई। राजा को तख्ते पर लिटाया गया। आदिवासियो के पुरोहित ने राजा के शरीर की जाँच की और पाया कि उसकी एक अंगुली कटी हुई है, अतः उसकी बलि नही दी जा सकती। राजा छोड़ दिया गया। सम्राट् के मन में तब बोध जगा कि जो होता है अच्छे के लिए ही होता है। जो होना है, वह न तेरे हाथ मे है, न मेरे हाथ मे। उसे तो हो लेने दो। उसकी किस बात की चिंता ! अपने मन को निश्चित कर लो। 'मैं बड़ी शांति के साथ जीऊँगा', इसका संकल्प और बोध बना हुआ रहे।

मनुष्य के मन का एक बोझ और भी है, वह है मनुष्य के मन मे पलने वाली हीन-भावना यानी 'वह बड़ा, मै छोटा' का अहसास। दुनिया में एक बड़ा होता है 'मिर्ची बड़ा' दूसरा बड़ा होता है—'दही बड़ा' और तीसरा बड़ा होता है—'हम बड़ा' यानी 'मै बड़ा'। यह 'बड़ा' बड़ा घातक होता है। आदमी के मन

मे हीनता की छोटी-सी ग्रंथि भी आदमी के सारे आत्मविश्वास को धूलिसात् कर देती है। कोई अपने आपको जाति से हीन मानता है, कोई रग से, कोई रूप से, कोई धन से तो कोई कौम से अपने आपको छोटा समझता है। आदमी सोचता है कि मै छोटी जाति का हू, मै कुछ नहीं कर सकता। वह यह नहीं विचारता कि भारत का राष्ट्राध्यक्ष भी तो छोटी जाति का ही है। वह इस प्रतिष्ठित पद पर है, तो अपने विश्वास और कार्य-शैली के बूते पर है, हीनभावना से नहीं।

व्यक्ति मे विश्वास—आत्मविश्वास हो, तो वडे-से-वडे पर्वत को भी लाघा जा सकता है, दरियाओ को भी पल मे पार किया जा सकता है। हीनभावना आते ही खून ठडा पड जाता है, दिमाग की सोच सुस्त हो जाती है। तव आदमी कुछ नहीं कर पाता। हीनता की भावना के कारण ही आदमी अपनी चमड़ी को खूब रगड़ता है, ताकि थोडा तो कालापन दूर हो जाए, चमडी गोरी हो जाए। हीनता की यह भावना ही आदमी को गिराती है और आत्मविश्वास ही उसे उठाता है। हम अपने जीवन को आत्मविश्वास से ओतप्रोत करे।

किसी को लगता है कि वह गरीव-अभागा है, तो यह भी हीनता ही है। वह सोचता है कि वह वोलने की औकात कैसे रखता है जव कि उसके पास पैसा नहीं है। जिनके पास पैसा है, वे सीधे मुँह वात भी नहीं करते, अपनी ही अक्खड़, अपने ही घमंड मे चूर रहते है। जिस धन को हम हीनता का या ऊँचाई का आधार मानते है, यह तो लक्ष्मी है जो कव-किसको ऊपर उठा देती है और कब किसको नीचे गिरा देती है, पता ही नहीं चलता। जिस कुल को हम ऊँचा कहते हैं, हो सकता है कि उस ऊँचे कुल में जन्मा व्यक्ति नीचे कुल वाले से भी बदतर हो जाए और नीचे कुल वाला व्यक्ति कुल की सपन्नता से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध कर जाए। मूल्य माटी या सोने का नहीं, मूल्य दीये की ज्योति का है। फिर हम किस आधार पर कहे कि ऊँचा कुल, नीचा कुल; गोरा रग, काला रग।

तुम अपने मन की दिशाओं को वदलो, मन की स्थितियो को बड़े आत्मविश्वास से भरो। काले हो, तव भी तुम गोरे काम कर सकते हो और गरीब हो, तव भी अपने ज्ञान और चरित्र के वूते पर अमीर बन सकते हो। प्रातःकाल जगो तो प्रार्थना करना, माता-पिता को धोक लगाना, लेकिन उससे पहले अपने हृदय को आत्मविश्वास से भर लेना। तुम इतने आत्मविश्वास से भर उठना कि लगे—'मेरे विचार सामान्य विचार नहीं हैं। मै असाधारण विचारो का स्वामी हूँ;

मेरा मस्तिष्क दुनिया का अनूठा और अनुपम मस्तिष्क है। हे प्रभु, मेरा जीवन मेरे लिए तुम्हारा वरदान बने, अनुपम सौगात बने।

अपने हृदय मे, मनोमस्तिष्क मे आत्मविश्वास को उठने दें, आत्मप्रमोद जाग्रत करें, आत्मपुरुषार्थ से भर जाएँ। दो पल के लिए ही सही, जी-भर कर मुस्कुरा ले कि वह प्रसन्नता स्वयं ही ईश्वर की भक्ति बन जाए। बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी रोजमर्रा की दिनचर्या मे प्रवेश करें। सचमुच, तब आपका जीवन मधुरिम, स्वर्णिम और स्वस्ति भरा होगा, पूरा दिन आनंद से आपूरित होगा।

जहाँ आनंद ही आनंद है, भीतर भी आनंद, बाहर भी आनंद, धर्म ने उसे सच्चिदानंद कहा है। हर पल, हर क्षण आनंदित रहो। अगर मन का बोझ है, तो उसे उतार फैको और हर हाल में मस्त रहो। दुनिया मरे या जीए, मेरा मौलाना तो मुझमें हर हाल में मस्त; इतना ही सारसूत्र है, इतना ही सार-संदेश है।

❑

पाप, आखिर क्यों ?

पहला प्रश्न है : 'मनुष्य जानते हुए भी पापकर्म क्यो करता है?'

मनुष्य अगर जानता तो पापकर्म कभी नहीं करता। पाप हमेशा अज्ञान से जन्म लेता है। अज्ञान की परिणति ही पाप है। ज्ञानी से कभी पाप होता ही नही है। ज्ञान में जीना ही अपने आप मे पुण्य मे जीना है।

ऐसा नहीं है कि अज्ञानी आदमी ही पाप करता है, वरन् अज्ञान स्वय ही एक पाप है। ऐसा भी नहीं है कि ज्ञानी आदमी ही पुण्य करता है वरन् ज्ञान मे जीना भी अपने आप मे कृतपुण्य होना है। ज्ञान के नाम पर मनुष्य ने जितना ज्ञान हासिल किया है, उस ज्ञान के द्वारा तो उसने अपने अज्ञान को ही ढका है। ज्ञान की शुरुआत ही तव होती है जव प्रथमतः आदमी अपने अज्ञान को स्वीकार करता है। अज्ञान की यह स्वीकृति ही ज्ञान को जन्म देने का प्रसूति-गृह है।

कितावों को पढकर, सत्सगों में जाकर, ऊँची-ऊँची बातो को सुनकर आदमी ने केवल अपने दिमाग को भर लिया है। जिस ज्ञान को भरा है, उसका सबध मस्तिष्क के साथ है। पाप का सबध व्यक्ति के मन और चित्त के साथ होता है। मस्तिष्क कभी भी पाप नहीं करता और मन कभी भी ज्ञान को उपलब्ध नहीं होता। व्यक्ति अपने शरीर पर नियत्रण पा सकता है। अगर व्यक्ति यह सकल्प कर ले कि मैं हाथ नहीं हिलाऊँगा, तो हाथ नहीं हिलेगा। व्यक्ति अपनी वाणी पर भी

नियंत्रण कर सकता है, लेकिन वह मन पर नियंत्रण नहीं कर पाता। जुबान को चुप कर देने से, शरीर को एक जगह पर टिका देने से मन नहीं टिकेगा। मन तो चंचलता मे बहेगा और उसका चंचलता में बहना ही पाप के प्रवाह मे बहना है।

निश्चित तौर पर व्यक्ति शरीर के द्वारा, वाणी के द्वारा इतने पाप नहीं करता जितने कि अपने मन के द्वारा करता है। शरीर और वाणी के द्वारा कभी भी पाप नहीं हो सकता। पाप हमेशा मन के द्वारा होता है। शरीर के द्वारा जो पाप होगा, उसे हम पाप की श्रेणी मे नहीं रखेगे, बल्कि उसे अपराध की संज्ञा देगे। दुनिया मे जितने भी न्यायालय हैं, सारे न्यायालय अपराधो की सजा देते है। पाप की सजा देने वाला कोई भी इंसाफधर नहीं है।

यह विडम्बना ही है कि मनुष्य जानते हुए भी पाप करता है। यह उसकी मूर्च्छा-अवस्था है। जिस गुरु के पास जाकर युधिष्ठिर ने ज्ञान पाया था, उसी गुरु से दुर्योधन ने भी ज्ञानार्जन किया था, मगर एक व्यक्ति सत्य को जानकर भी उसका मखौल उड़ाने लगा। दूसरा व्यक्ति सत्यप्रिय और सत्यनिष्ठ हुआ। मनुष्य जानते हुए भी पाप करता है तो पहली बात मैं यह कहूँगा कि उसका कथित ज्ञान, ज्ञान है ही नहीं, क्योंकि ज्ञान होने के बाद पाप हो ही नही सकता। ज्ञानी व्यक्ति के द्वारा अगर कोई पाप होता हुआ दिखाई दे तो उसको पाप का फल नहीं मिलेगा, क्योकि वह किसी-न-किसी के लिए पुण्य का सृजन कर रहा है। एक सृजनात्मक क्षमता का व्यक्तित्व अगर विध्वंस भी करेगा तो किसी-न-किसी के सृजन के लिए ही करेगा, जबकि एक विध्वंसक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति अगर सृजन भी करेगा तो किसी न किसी के विध्वंस के लिए ही करेगा। सारे आधार तो व्यक्ति की अपनी अन्तःस्थिति पर टिके हुए हैं।

मनुष्य की अंतरात्मा मूर्च्छित है; उसका अन्तर्मन पूरी तरह से विक्षिप्त है और इसी कारण वह पाप करता है। ज्ञान रहता है ऊपर-ऊपर और जन्म-जन्मांतर की विकृतियाँ गहरे मे दबी रहती हैं। फ्रायड ने मन के तीन भेद किए है—चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन। मनुष्य का चेतन मन दिन-रात पाप करता रहता है। आखिर उस चेतन मन को ऊर्जा कहाँ से मिलती है? उस चेतन मन मे विचार, विकार और अहंकार कहाँ से आते हैं? भीतर मे एक और गहरी बीमारी है और वह है मनुष्य का अपना ही अचेतन मन। यह बीमारियों का सबसे बड़ा घर है और जब तक व्यक्ति अपने अचेतन मन में, अपने भीतर के चित्त

मे योग्य माध्यमो के द्वारा प्रवेश नहीं करता, तब तक व्यक्ति अपने भीतर की बीमारियो को जड से नहीं उखाड सकता।

अगर एक बच्चे से कहा जाए कि तुम्हें इतने सारे रोग है; तुम अपने इन रोगो से मुक्त क्यो नहीं हो जाते तो वह बच्चा आप पर हॅसेगा। वह बच्चा आपसे कहेगा कि अगर इन रोगो से मुक्त होना मेरे वस में होता तो क्या मै मुक्त नहीं हो जाता? इन मूल रोगो से मुक्त होने के लिए बचकानापन काम नहीं आयेगा। जब तक व्यक्ति अपने चेतन मन से ठेठ भीतर अचेतन मन तक, सोए हुए, निद्राशील ओर मूर्च्छित मन तक नहीं पहुँचेगा, तब तक व्यक्ति अपने पापो के प्रेरक को निर्मूल नहीं कर पायेगा।

यदि हमारे क्रोध, हमारे कषाय, हमारे मोह और विकार ऊपर-ऊपर होते तो हम इनको ठीक वैसे ही बुझा डालते जैसे कि एक माटी के दिए को फूक मार कर बुझाया जाता है, लेकिन ये तो भीतर तक पैठे हुए है। फ्रायड ने एक छोटी-सी कहानी का जिक्र किया है कि एक ग्रामीण किसी शहरी होटल मे जाकर ठहरा। रात को जब वह सोने लगा तो आदतन उसने जोर से प्रकाश को फूके मारीं, लेकिन प्रकाश बुझ न पाया। उसने बहुत प्रयास किया, खूब फूँकें मारीं, मगर सब प्रयास व्यर्थ ! उसने जैसे-तैसे रात गुजारी।

ग्रामीण ने सवेरे होटल-मालिक से शिकायत की कि तुम्हारे यहॉ न जाने कैसे दिये जलाये जाते हैं कि वे फूँक से बुझते ही नहीं है। होटल के मालिक ने कहा—'तुम केवल माटी के दियों को बुझाने के अभ्यस्त हो। ये दिये माटी के नही, बिजली के हैं। बिजली के इन दियो को कभी भी फूँक से नहीं बुझाया जा सकता। इनका स्विच कहीं ओर है।

हम जब भी भीतर झॉकते हैं तो विचार-विकार-अहकार हमें घेर लेते हैं; मिलन और बिछोह की स्मृतियॉ नहीं छूटतीं; मन टिकता नहीं है, क्योकि हम परिधि पर हैं। हमे केंद्र तक जाना होगा। अगर पूरी तरह अपने जीवन को निष्पाप और निर्मल करना चाहते हो, अपने मन की पवित्रता को कोई दिशा और आयाम देना चाहते हो तो अचेतन मन तक पहुॅचना होगा, जहॉ मनुष्य को पाप और पुण्य करवाने वाला प्रेरक तत्त्व बैठा है।

आप पूछते हैं कि मनुष्य जानते हुए भी पापकर्म क्यो करता है? जिस दिन गहराई में छिपी हुई पाप की वृत्तियो तक ज्ञान पहुॅच जाएगा, उस दिन हमारा

जीवन अपने आप निष्पाप हो जाएगा। जब तक अपने भीतर के गर्भगृह तक ज्ञान का अखड दीप नही पहुँच पाता है तब तक मनुष्य बाहर से पाप करे या न करे, मन-ही-मन मानसिक पाप तो जारी रहेगा, मानसिक व्यभिचार तो चलता रहेगा।

आदमी अहंकार को नहीं झुकाता, प्रणाम के लिए केवल मस्तक भर झुका लेता है; आदमी बाहर के मंदिर तक हो आता है, लेकिन भीतर के मन्दिर तक नहीं पहुँचता। जब व्यक्ति ध्यान की सम्यक् प्रक्रिया के द्वारा, सत्य की अन्तर्दृष्टि के द्वारा, संबोधि-साधना के द्वारा अपने अचेतन मन से सम्पर्क करेगा, उसमे प्रविष्ट होगा, तभी भीतर की बीमारियों को काटा जा सकेगा, उसकी चूलो को हिलाया जा सकेगा। तब ही आदमी निष्पाप और कर्ममुक्त हो सकेगा। बाहर, जीवन और जगत के प्रति रहने वाली अन्तर-सजगता और अन्तर्दृष्टि ही हमे पुण्यकर्मो का पथिक बनाती हैं।

दूसरा प्रश्न है : 'आदमी आतंकवादी या चोर क्यो बन जाता है ?'

आदमी जो कुछ भी बनता है, उसके पीछे कई कारण हैं। आनुवशिकता, वातावरण, परिस्थितियाँ आदि कई तत्त्व इसके लिए उत्तरदायी है, लेकिन यह कोई जरूरी भी नहीं है कि जिस वंश में हम जन्मे, उस वंश का शत-प्रतिशत प्रभाव हम पर पड़ेगा ही। सामान्यतया हर मनुष्य में आधे गुण उसे आनुवंशिकता से मिलते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी आनुवंशिकता के चलते मनुष्य मे गुण स्थानातरित होते हैं, क्योकि हमारे शरीर मे माता-पिता दोनो के ही गुण-तत्त्व मौजूद हैं, दोनों के संयोग से ही हमारे शरीर का निर्माण होता है। फ्रायड और डार्विन ने बडी खोज की है आनुवंशिकता पर और माना है कि आनुवंशिकता के कारण भी मनुष्य आतंकवादी, चोर या उग्रवादी बन जाता है।

ऐसा भी देखा जाता है कि एक आतंकवादी व्यक्ति का बेटा महान अहिसक हो सकता है। जिस वंश मे सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य हुआ, उसी वंश में सम्राट् अशोक और संप्रति हुए, मगर तीनों की धाराएँ अलग-अलग थीं। अव यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य किस आनुवंशिकता से आतंकवादी, उग्रवादी, चोर या व्याभिचारी बनता है। हिंसक का बेटा अहिसक हो सकता है और अहिंसक का वेटा

महाहिंसक भी हो सकता है। हिटलर के पिता ने कभी सपने मे भी यह नहीं सोचा होगा कि उनका बेटा सारे ससार मे तहलका मचाएगा। स्टालिन की मॉ ने ख्वाब में भी यह नही सोचा था कि उसका बेटा हजारों लोगों का कत्लेआम करवायेगा।

आदमी को प्रभावित करने वाला एक अन्य तत्त्व है—वातावरण। मनुष्य को सोहबत कैसी मिलती है, उससे भी वह आतकवादी और चोर हो सकता है। वातावरण व्यक्ति को स्वत ही प्रेरित करता है। ठीक वैसे ही जैसे रात मे आसमान में चॉद के उगते ही कमलिनी की पखुडियॉ अपने आप खिलने लगती है। यदि तानसेन वीणा के तारो को झकृत कर देता है तो अपने आप ही जगल से हिरण दौडे चले आते है। अगर बैजू बावरा कोई मल्हार राग छेड दे तो आसमान मे अपने आप ही मेघ घिर आते है। यह सब वातावरण का ही असर है।

जिस तरह अच्छा वातावरण व्यक्ति को अच्छा बनने के लिए प्रेरणा देता है, वैसे ही बुरा वातावरण व्यक्ति को बुरा होने के लिए प्रेरित करता है। ससार भर में जितने भी कारागार हैं, उन सबका उद्देश्य व्यक्ति को सुधारना होना चाहिए, लेकिन वे इससे कोसो दूर हैं। इसका कहीं कोई प्रयास नहीं है कि उसके विचारो को परिवर्तित कर दिया जावे, उसके विचारों को दिशा दी जा सके। कारागार मे रहकर तो आदमी और भी अधिक ढीट हो जाता है।

इस दुनिया को केवल धोक लगवाने वाले मदिरों की जरूरत नहीं है। जमाना बदल चुका है। आज धरती पर ऐसे मदिरों की जरूरत है जिनसे विचारो मे परिवर्तन लाया जा सके। कहते हैं कि एक मंदिर का निर्माण महान् पुण्य-कर्म है और सौ मंदिरों का निर्माण करना एक तीर्थ के निर्माण के तुल्य है, लेकिन मै तो यह कहूँगा कि सौ मदिरों या एक तीर्थ के निर्माण की बनिस्पत किसी हिसक और उग्रवादी व्यक्ति को अहिसा, प्रेम और करुणा का मार्ग प्रदान करना कही ज्यादा श्रेष्ठ है।

आदमी चोर या व्यभिचारी क्यो हो जाता है ? मार्क्स कहते हैं कि आर्थिक शोषण के कारण ही मनुष्य आतंकवादी और चोर बनता है। उनके अनुसार अगर धरती से आर्थिक शोषण को खत्म कर दिया जाए और आर्थिक साम्यवाद को स्थापित कर दिया जाए तो चोरी, लूट-खसोट, प्रतिस्पर्धा, गलाघोट संघर्ष अपने आप मिट जाएँगे। लेकिन हम यह भी देखते है कि जिन देशो मे मार्क्स या लेनिन जैसे लोगों ने आर्थिक शोषण को मिटाने के लिए आर्थिक साम्यवाद की स्थापना की,

वहाँ पर भी परमाणु बम विकसित किये जा रहे है; वहाँ पर भी निरंतर एक दूसरे की जेबें काटी जा रही हैं और लोगों की गर्दने हलाल हो रही है। इस तरह यह भी आखिरी मार्ग नहीं है।

हम थोड़ा और गहराई में चलें। मनोविज्ञान कहता है कि व्यक्ति अगर चोर है, व्यभिचारी है, आतंकवादी है तो इसका मूल कारण है कि मनुष्य ने अपने जन्म-जन्मान्तर की वृत्तियो को दमित किया है। मानसिक दमन व आत्म-दमन के कारण ही इतना आतंकवाद और उग्रवाद फैला हुआ है। अगर व्यक्ति अपने मानसिक जगत के प्रति निर्मल और औरों के प्रति मानवीय दृष्टि अपना ले तो वह सहजतया अपने जीवन से आतंकवाद, क्रोध, कषाय और विकार को निर्मूल कर सकता है।

मनुष्य की मूल बीमारियाँ उसके अपने अचेतन मन में हैं। व्यक्ति को उस वातावरण से अलग कर दिया जाये, उसकी आनुवंशिकता मिटा दी जाये तो भी अगर उसके भीतर कचरा भरा हुआ पड़ा है तो वह कचरा प्रकट होकर बाहर आयेगा ही। एकमात्र मार्ग यह है कि व्यक्ति प्रतिदिन ध्यान करे। हर व्यक्ति अपने भीतर कषायो और कचरों को पहचाने। हर व्यक्ति बाहर से भीतर की तरफ मुड़े और परम शांति में जिए।

मनुष्य के मन में विक्षिप्तताएँ हैं, इसीलिए इतना आतंक और उग्रवाद है। केवल एकतरफा प्रयास करने से कुछ न होगा क्योंकि इस कार्य में बहुआयामी प्रयत्नों की जरूरत है। हम लोगों के विचारों को भी बदलने की चेष्टा करें; उन्हें ऐसा साहित्य और मार्गदर्शन उपलब्ध कराएँ कि वे अहिंसा का दामन थामे, करुणा की प्याली पिएँ। अतीत में व्यक्ति चाहे चोर रहा हो, व्यभिचारी रहा हो या आतंकवादी रहा हो, उसका वर्तमान सुधर जाता है। उसके सुधरने से उसका भविष्य भी स्वर्णिम होगा, भविष्य भी सुनहरी सुबह को लिए हुए होगा।

जो लोग धरती पर आतंक और उग्रवाद को प्रोत्साहन दे रहे हैं, मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि वे अपनी जाति या स्वार्थो को महत्त्व देने की वजाय मानवीय दृष्टि से विचार करें। आखिर, जिसे मारा जा रहा है वह भी वही है, जो तुम हो। आग्रह और स्वार्थ की दीवारों को गिराकर ही हम शांति और सुकून का वातावरण बना सकते हैं।

अगला प्रश्न है 'मेरा मन क्यों नहीं लगता? हर समय घर मे झगडा क्यों होता रहता है?'

मन को लगाने की जितनी कोशिश करोगे, मन उतना ही उचटेगा। अगर मन नही लगता है तो ध्यान लगाओ। जब व्यक्ति के जीवन मे ध्यान के फूल खिल जाते है तब व्यक्ति अगर अपने आप से भी पूछना चाहे कि क्यो भाई मन, तुम लगते हो कि नहीं लगते हो तो शांत मन मे कोई जवाब नही आयेगा। अशान्त मन ही नही लगता है और शान्त मन कहीं भी भटकता नहीं है। अशान्त मन ही दिग्भ्रमित होता है, अशांत मन ही परतन्त्र होता है और वही क्लान्त होता है।

जहाँ अपने चित्त मे शांति अवतरित हो जाती है, वहाँ घर मे चाहे झगडा हो या प्रेम हो, मगर व्यक्ति कलह और सुलह—दोनो से ही अपने आपको निर्लेप और मुक्त रखेगा। स्वाभाविक है कि घर मे अगर चार वर्तन है तो वे आपस मे खटकेंगे ही, आपस में टकराएंगे ही। पर जिस जमीन पर वे वर्तन पडे है, वह जमीन नहीं खटकती। अगर हम भी जमीन की तरह सहिष्णु हो गए तो कोई भी खटपट हमे प्रभावित नहीं कर सकती। सारी खटपट मन की है और मन की खटपट और मन की दुविधा अगर मिट जाए तो घर मे कोई झगडा नही होगा।

आप कहते है कि आपका मन नहीं लगता। लगता है कि आपने अपने मन को सही ढग से समझा ही नहीं है। जिस दिन आप अपने मन के स्वभाव को समझ लेंगे, चचल चरित्र की थाह पा लेंगे, उस दिन मन को टिकाने के प्रयास ही नहीं होंगे। क्योंकि मन कभी भी टिका नहीं है। वह तो एक वच्चे की तरह है जिसे कहा जाए कि घूमने को मत जा, खेलने को मत जा तो वह उतना ही खेलने को मचलेगा। जाने दो उसको, जहॉ वह जाता है।

मन चंचल है। आप केवल सजग होकर साक्षी होकर एक दृष्टा और दर्शक होकर इसको देखते चले जाओ। यह मन अपने आप ही बहते-बहते रुक जाएगा, चलते-चलते थम जाएगा। अगर सरोवर मे जोर से लहरे उठ रही है तो ऐसा मत समझना कि सरोवर अशान्त है। सरोवर तो शात ही है। केवल हवा के जो झोके आ रहे हैं, वे अगर थम जाएँ तो लहरें भी थम जाएँगी। सरोवर मे ऊपर-ऊपर ही लहरों की उथल-पुथल है। भीतर से तो सरोवर बिल्कुल शान्त पडा है।

कभी कोई उद्दीपक तत्त्व आ जाता है और आदमी को क्रोध आ ही जाता है। जितने ज्यादा उद्दीपक तत्त्व होंगे, आदमी उतना ही अस्थिर होगा और झगड़ो

को आमंत्रण देगा। जो होता है, होनी है। हम हस्तक्षेप न करें। एक बार ऐसा ही हुआ कि दो आदमी किसी बात पर झगड़ रहे थे। उनमें से एक झुंझला उठा और दूसरे से बोला—'अबे चुप हो जा। अब अगर ज्यादा बोला तो मैं तुम्हारे बत्तीस दाँत तोड़ दूँगा।' इस बात पर दूसरे व्यक्ति ने कहा—'रहने दे ! तू क्या मेरे दॉत तोड़ेगा? मेरा घूँसा पड़ा तो चौंसठ दाँत अभी ठिकाने लग जाएँगे।'

तीसरा आदमी उन दोनों की बातचीत को सुन रहा था। उसने कहा— 'भैया, जरा एक मिनट रुकना। लड़ाई से पहले यह तो निपटारा हो जाए कि तुम चौसठ दाँत कैसे तोड़ोगे जबकि इसके मुँह मे तो बत्तीस दॉत ही हैं।' दूसरे आदमी ने कहा—'मुझे पता था कि तुम बीच मे जरूर बोलोगे। मैंने उसके साथ तुम्हारे बत्तीस दॉत भी गिन लिये थे।' इसीलिए कहा है कि जो होता है उसको होने दें। हम सिर्फ शान्त बने रहें, क्योकि हमारे चुप करने से कोई चुप होता नहीं है। जो होना है, वह तो होगा ही। किसी और की अशांति को देखकर हम अपने आपको अशान्त न करें।

किसी ने हमें गाली दी है तो हम बदले में गाली न दें। वह तो मूर्ख है, लेकिन बदले मे गाली देकर हम महामूर्ख न बनें। मन शान्त होता है, अगर हम शान्त हो जाएँ। अगर हम ही भटकना छोड़ दें, हम ही प्रतिक्रियाएँ करना बंद कर दें तो मन अपने आप मौन हो जाता है। मन के मौन होने का नाम ही जीवन में मुनित्व का आयोजन है, मुनित्व का वरण है।

तुम घर में रहते हुए भी ऐसे हो जाओ जैसे घर में न हों। झगड़े नहीं हो पाएँगे। विपरीत वातावरण उद्वेलित नहीं कर पाएगा। जो हो रहा है, हो ही लेने दो। गलती स्वयं सुधरने की प्रेरणा देती है। हम न ग्रहण करें और न प्रतिक्रिया। शांति चाहिए, तो शांत रहिए। निराशा, चिन्ता से कोसों दूर रहें। सदा प्रसन्न रहें, मन अपने आप शांत-स्वस्थ रहेगा।

अंतिम प्रश्न है : 'मनुष्य अपना फ़र्ज़ क्यों भूल जाता है और वह धन-दौलत के पीछे पागल की तरह इधर-उधर क्यों डोलता फिरता है?'

अब अगर कोई मुझसे पूछे कि एक पागल, पागल क्यों है; वह क्यों दिनभर बोलता रहता है और क्यों इधर-उधर दौड़ता रहता है तो मैं क्या ज़वाब दूँ!

सीधा-सा सवाल है कि वह आदमी पागल है, इसलिए वह इधर-उधर दौड रहा है। मनुष्य का यह पागलपन ही तो है कि वह अपने से ज्यादा मूल्य अपने धन और दौलत को देता है। पैसे का पागलपन बड़ा खतरनाक होता है। फर्ज भूलेगा ही। फर्ज निभाने के लिए तो पैसे के मोह को कम करना होगा। अभी मूल्य केवल पैसे का है, फर्ज तो तब निभ पाता है, जब फर्ज का मूल्य अहसास हो।

पैसा अपना इतना मूल्य बढा चुका है कि त्यागी भी और भोगी भी, दोनो ही इसके शिकंजे में हैं। धर्म भी धन के आश्रित हो गया है। इस समाज में यह कोई पूछने वाला नहीं है कि यह धन आपने कैसे कमाया - सही तरीके से या गलत तरीके से? समाज केवल धन को पूजता है। अगर परमात्मा के मदिर भी बना दिये जाए तो प्रतिष्ठा-महोत्सव के वक्त वही व्यक्ति आकर परमात्मा की प्रतिमा को प्रतिष्ठित कर पाता है जो पांच-दस लाख रुपये खर्च कर सकता है। उस आदमी को कोई नहीं पूछेगा जो बारहो महीने आकर परमात्मा को धोक लगाता है, उसकी पूजा करता है। वह व्यक्ति एक किनारे खडा रह जाएगा।

एक गरीब आदमी अगर धन और दौलत के पीछे पागल हो तो बात समझ में आती है, क्योंकि पापी पेट का सवाल है, पर यदि एक अमीर आदमी भी गिन-गिनकर नोटों की गड्डियॉ रखता है, सुवह-दोपहर-शाम फिर-फिर उनको गिनता है तो यह बात समझ से परे है। आदमी ने अपने धन-दौलत के लिए इतने वहीखाते खोल रखे हैं, पर जीवन के लिए एक भी वहीखाता या डायरी नहीं खोली है जिसमे अपने अच्छे और बुरे कामो का हिसाव रखा जा सके।

किसी को अपने जीवन के प्रति परवाह नहीं है और न ही जीवन के प्रति जागरूकता ही है। वस पैदा हो गये, क्योकि माता-पिता ने पैदा कर दिया; जी रहे हैं क्योंकि मरे नहीं हैं। जैसे-तैसे कर सुवह से शाम तक समय गुजार रहे हैं, कभी ताश खेलकर, कभी कैरम खेलकर, कभी शराव मे डूबकर। लोगों ने हजारो तरह के पागलपन पाल रखे हैं। अगर केवल वक्त को काटना ही जीवन है तो यह जीवन कोई अर्थ नहीं रखता। तव यह काया विसर्जित हो जानी चाहिए। जीवन का कोई लक्ष्य और ध्येय नहीं है तो वह जीवन केवल कधे पर शव को ढोने के समान होगा।

मनुष्य अपना फर्ज़ क्यो भूल जाता है? उसे अपने फ़र्ज़ याद ही
हैं। मनुष्य की दृष्टि इतनी सकुचित है कि उसे फर्ज के केवल

स्कूल की फीस जमा कराना याद रहता है; उसे फर्ज़ के नाम पर अपनी पत्नी के लिए लिपस्टिक लाना याद रहता है; फर्ज़ के नाम पर उसे अपने आपको अप-टू-डेट रखना याद रहता है। उसे अपनी माँ के लिए कोई भी सामान लाना याद नहीं रहता। दुकान से लौटते समय अपने बच्चो के लिए टॉफी लाना याद रह जाता है, किंतु अपने छोटे भाइयों के लिए कुछ भी लाना याद नहीं रहता। जब हम अपने पूरे परिवार के लिए भी अपने फर्ज़ नहीं निभा पाते तो मानवता के फर्ज तो बहुत बड़े होते हैं। मानवता तो हमसे बहुत बड़ी अपेक्षाएँ और उम्मीदे रखती हैं।

आदमी संकुचित हो गया है। कोई भी मनुष्य, मनुष्य नहीं रहा, हर मनुष्य पूरी तरह से तलैया हो गया है। मनुष्य का हृदय सागर की तरह विराट नहीं रह गया है। वह तो किसी कीचड़ से भरे गड्ढे की तरह हो गया है। सड़ रहा है आदमी, गल रहा है आदमी, दुर्गन्ध दे रहा है आदमी।

अब तो हर घर में ऐसा वृक्ष लगे कि जिसकी छाया पड़ौस तक भी जाए। अगर आदमी ने चौबीस घंटों में जितना कमाया है, उसका एक अंश भी मानवता के लिए सुपुर्द कर दिया है तो परमात्मा की ओर से आशीर्वाद ही मिलने वाला है। अगर एक दिन मे ज्यादा न भी कमा पाए; छः रोटी के पैसे भी कमाए है और उसमें एक रोटी किसी भूखे और बेसहारा आदमी के पेट को भरने मे लगाए तो वह छोटा-सा दान भी आदमी को बहुत ऊँचा उठाएगा; वह सेवा उसकी आत्मा को और भी ऊँचा उठाएगी।

किसी के पास बहुत है, फिर भी वह नहीं लुटा पाता तो यह उसका दुर्भाग्य है। आपके पास कुछ भी नहीं है, फिर भी अगर आप कुछ देने को— कुछ लुटाने को तैयार है तो धन्यभाग है आपका। महावीर और बुद्ध जैसे लोग तो मानवता के कल्याण के लिए सारे राज-वैभव, राजमहल और सम्राट्-पद का भी त्याग कर बैठे। यह तो हम पर निर्भर है कि हम मानवता के लिए अपनी ओर से कितना त्याग और बलिदान करते हैं।

आज फिर से एक आह्वान है, फिर से एक बलिदान पुकार रहा है। यह नया बलिदान देश की आज़ादी के लिए नहीं है, वरन् जन-जन की आज़ादी के लिए है, हर मनुष्य के विकास और उसके उद्धार के लिए है। नई शहादत

चाहिए। आपको फिर भगवान नहीं मनवाना है, बस मानवता को थोड़ा-सा सहयोग करना है।

अगर आप फल चढ़ाने मंदिर जा रहे हैं और रास्ते में कोई भूखा बच्चा मिल जाए तो उन फलों में से दो फल उस बच्चे को देकर उसके रोते हुए हृदय चुप कर देते हैं, उसकी बहती हुई आँखों से आँसू पोंछ लेते हैं तो परमात्मा तक आपके प्रणाम पहुँच जाएँगे, परमात्मा तक आपके फल पहुँच जाएँगे। किसी के बहते हुए आँसुओं को पोंछना ही परमात्मा की सच्ची पूजा और प्रार्थना है।

□

कैसे धुलें मन के पाप ?

एक बहुत पुरानी घटना है। पवित्र पुस्तक बाइबिल में इसका जिक्र हुआ है। कहते हैं कि भगवान जीसस किसी गाँव के बाहर पेड़ की छाँव में बैठे हुए ईश्वर की इबादत कर रहे थे। इबादत अभी पूरी हुई ही थी कि जीसस ने दूर से सामने आते हुए हुजूम को देखा। भीड़ की जोरों से आवाज सुनी तो जीसस ने अपना ध्यान भीड़ की ओर केन्द्रित किया। उन्होंने देखा कि एक महिला दौड़ी चली आ रही है और उस महिला के पीछे सैकड़ों ग्रामीण दौड़ रहे हैं। ग्रामीण चिल्ला रहे थे, 'मारो इसे, यह पापिनी है, व्यभिचारिणी है।'

जीसस चौंके कि यह महिला आखिर कौन है? तभी महिला ने कहा– 'प्रभु, मुझे बचाओ ! मुझे शरण दो, जीवनदान दो।' यह कहते हुए वह जीसस के चरणो मे गिर पड़ी। अपने आँसुओं से उसने जीसस के चरण धोए और अपने बालों से उन्हें पौंछा। तभी सारी भीड़ वहॉ पहुँच गयी। महिला रोते-रोते कहने लगी–'प्रभु ! ये मुझे पापिनी और व्यभिचारिणी कह रहे है, पर हकीकत तो यह है कि पाप मेरे साथ हुआ है, मेरे साथ व्यभिचार हुआ है।' भीड़ ने चिल्लाकर कहा–'यह झूठ बोलती है। इसने पाप किया है। यह व्यभिचारिणी है। जीसस, तुम ही बताओ कि इसे क्या सजा दी जाए ?'

लोग सोचने लगे कि जीसस के लिए यह प्रश्न धर्म-संकट से कम नहीं है, क्योंकि जीसस सजा दे देते तो उनके प्रेम और शान्ति के संदेशों का क्या होगा !

और यदि वे मारने की सजा नहीं देंगे तो वे पाप और व्यभिचार को बढ़ावा देने वाले सिद्ध होंगे।

जीसस ने इस रोती बिलखती महिला को देखा और उग्र रूप लेती हुई उस भीड़ को भी देखा। जीसस भीड़ के सामने खड़े होकर बोले—'इसे अवश्य ही मारना और पीटना चाहिए, क्योंकि, पापी और व्यभिचारी को तो सजा मिलनी ही चाहिए। पर इस सारी भीड़ में से सबसे पहला पत्थर वह व्यक्ति ही मारे जिसने मन में कभी पाप नहीं किया हो, जिसके मन में कभी व्यभिचार की तरंग न उठी हो। वही सज्जन ही इस महिला को दण्ड देने का, इन्साफ करने का अधिकार रखता है।' सारी भीड़ एक दूसरे की बगलें झाँकने लगी। सभी शर्मिन्दा थे और सबकी नजरें नीची हो गई थीं। सैकड़ों/हजारों की भीड़ मे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसके मन मे कभी कोई पाप न उठा हो या जिसने स्वप्न मे भी व्यभिचार न किया हो। धीरे-धीरे भीड़ छँटने लगी और सभी लौट गए। अन्त में वहाँ पर दो व्यक्ति ही शेष रहे, जीसस स्वयं और वह महिला।

भीड के लौट जाने के वाद वह महिला जीसस के चरणो में गिरकर वोली—'प्रभु, मुझसे पाप और व्यभिचार हुआ है। कृपया मुझे प्रायश्चित का अवसर दें और मुझे मेरे पापों से मुक्त कर क्षमा प्रदान करे।' जीसस ने कहा—'वहिन ! मैं कौन होता हूँ, किसी को दण्ड या क्षमा देने वाला ? यदि तुझे माफी ही माँगनी है तो उस ईश्वर से माँग, जो तुझे सन्मति प्रदान करे, जिसके प्रति पर्दा डाल कर तूने पाप किए हैं। झुक उस ईश्वर के प्रति, जो साक्षी है तेरे हर पुण्य और पाप का।'

कौन है धरती पर वह व्यक्ति जिसके अन्तर्मन मे कभी पाप न उठा हो। मेरे सम्मुख वैठी हुई इस हजारों की भीड मे भी कोई विरला ही होगा जिसके मन में कभी किसी तरह का पाप न उठा हो। यदि ऐसा कोई निष्पाप व्यक्ति यहॉ उपस्थित है तो वह इन्सान नहीं, इन्सान के रूप मे भगवान या किसी देवता की सूरत है। हॉ, दुनिया में हर व्यक्ति पापी है; कोई वाहर से पापी है तो कोई अन्दर से। यहॉ तक कि सन्त और सन्यस्त भी कोई ऐसा न होगा जो अपने हृदय पर हाथ रख कर यह कह सके कि उसके हृदय मे पाप की कभी कोई तरग न उठी

हो। यदि वह अपने जीवन के प्रति ईमानदार है तो वह इस मिथ्या भाषण के अपराध से बचेगा। बाहर हँसता हुआ चेहरा अपने अन्तर्मन मे कितने क्रोध और काम की चिनगारियो को सुलगाये हुए है, इस बात को तो उसकी आत्मा ही जानती है।

स्वर्ग और नरक किसी आसमान या पाताल मे बने हों, इस बात को तो हमने नही देखा, लेकिन व्यक्ति ईमानदारी से अपने मन में झाँके तो वह जरूर कहेगा कि- 'हाँ, स्वर्ग भी मेरे मन का एक पर्याय है और नरक भी मेरे मन का एक विकल्प है।' मनुष्य के अन्तर्मन में उठने वाली प्रेम, दया, क्षमा और करुणा की तरंगें ही जीवन का स्वर्ग है और उसके मन में उठने वाले कषाय, क्रोध और राग-द्वेष की सुलगती आग ही नरक है। ये सब मनुष्य के मन के पर्याय है। मैंने अपने मन के स्वर्ग को भी देखा है और मन के नरक को भी पहचाना है। जब-जब स्वयं को प्रेम और प्रमोद की तरंगों मे जीता देखा तो उस स्वर्ग के आनन्द को पाया और जब-जब स्वयं को क्रोध के स्वरूप मे देखा तो उतनी ही पीड़ा हुई, जितनी कि किसी व्यक्ति को नरक की आग में झोंके जाने पर होती है। तब मैंने उसी तरह स्वयं को पीड़ित और व्यथित अनुभव किया।

व्यक्ति स्वर्ग की आकांक्षा को संजोकर धर्म-कर्म करता है। धर्म इसलिए मत करो कि किसी आसमान में बसे हुए स्वर्ग मे तुम्हे जाना है। तुम धर्म इसलिए करो कि तुम अपने ही भीतर बसे हुए स्वर्ग को ईजाद कर सको और नरक की झुलसती हुई आग को शान्त कर सको। जिस व्यक्ति का वर्तमान स्वर्ग होता है, उसका भविष्य स्वतः ही स्वर्ग बन जाता है और जो वर्तमान मे नरक का जीवन जी रहा है, उसे मृत्यु के बाद भी नरक जाने से कोई नहीं रोक सकता। ऐसा नहीं है कि आज जिस व्यक्ति ने मुनित्व स्वीकार कर क्रोध किया हो, वह मरकर ही 'चण्डकौशिक' सर्प बने, वरन् उसका आज का मुनित्व ही चण्डकौशिक का पर्याय होगा। कर्म आज बँधेगा और उसकी परिणति किसी चण्डकौशिक के जन्म और किसी सर्प की योनि मे होगी।

भविष्य उसी का स्वर्णिम है, जिसने अपने वर्तमान को स्वर्णिम बनाने का प्रयत्न किया है। स्वर्ग हमारे भीतर है, नरक भी हमारे भीतर है। पुण्य और पाप आदमी के जीवन के कार्य और परिणति के नाम नहीं हैं, वरन् जब-जब भी मनुष्य

के मन पर भी [illegible] और [illegible] का अन्तर्द्वन्द्व मे शुरू [illegible] मे भी [illegible]। ऐसा नहीं कि [illegible] होगा। आदमी अपने जीवन मे भी पाप करता है और [illegible] मन मे छिपा पाप प्रकट हो जाता है [illegible] और [illegible] छिपा रहे, वह पाप कहलाता है। [illegible] और अपराध मनुष्य के शरीर द्वारा की जाने वाली अशुभ प्रवृत्ति है। दुनिया मे अपराधो की सजा देने के लिए कानून है, न्यायालय है, [illegible] है, पर मन के पाप की सजा देने के लिए दुनिया मे कोई कानून नहीं है। दुनिया मे शायद अपराधो की सजा मिलती है, पर धर्म की न्यायशाला मे शायद अपराध माफ भी हो जाएँ, पर पाप कभी माफ नहीं हो सकते। पापो का दण्ड देने वाली न्यायशाला स्वयं की ही आत्मा है, भले ही अपराधो की सजा कोई कानून देता है।

व्यक्ति का अशुभ चित्त, अशुभ लेश्यामंडल ही उसे पाप का जीवन दे रहा है। व्यक्ति अपने जीवन मे अपराध दो-पाँच या दस-बीस करता है, लेकिन पुण्य और पाप की, स्वर्ग और नरक की सैर प्रतिदिन, प्रतिक्षण करता रहता है। यदि आप ईमानदारी से अपने मन का निरीक्षण करें तो आप पाएँगे कि कितनी ही बार उसमें हिसा और प्रतिहिसा के भाव उठते है, कितनी ही बार आपने अपनी सास के गाल पर चाँटा लगाया है, कितनी ही बार अपने उग्र पति से मुक्त होने के लिए हत्या करने की सोची है और अपनी किसी जेठानी या देवरानी के लिए अशुभ विचारा है। आपने प्रकट मे तो किसी की हिसा नहीं की, किसी के साथ बलात्कार नहीं किया, किसी के साथ व्यभिचार और बुरा नहीं किया, फिर भी आपने ऐसा तो कर ही लिया; मन-ही-मन पाप कर लिया। यदि व्यक्ति अपनी तरफ से कोई सावधानी रखना चाहता है तो वह यह देखे कि मेरे मन मे कोई अशुभ विकल्प न उठे। जैसे कोई कछुआ किसी लोमडी को देखते ही अपने सिर को, शरीर की आगोश में ले लेता है, समेट लेता है, उसी प्रकार जब कभी हमारे मन मे कोई पापवृत्ति उठे, तो गोपन कर लेना, गुप्त कर लेना अपने भावों को, चित्तवृत्तियो को, अपने मन को अपने ही भीतर समेट लेना और सोचना कि 'मै तो एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।' मेरा धर्म अपने आप पर अंकुश लगाना है। धर्म का आचरण और अवतरण तो किसी निर्मल चित्त में ही हो सकता है।

हो। यदि वह अपने जीवन के प्रति ईमानदार है तो वह इस मिथ्या भाषण के अपराध से बचेगा। बाहर हँसता हुआ चेहरा अपने अन्तर्मन मे कितने क्रोध और काम की चिनगारियों को सुलगाये हुए है, इस बात को तो उसकी आत्मा ही जानती है।

स्वर्ग और नरक किसी आसमान या पाताल में बने हों, इस बात को तो हमने नही देखा, लेकिन व्यक्ति ईमानदारी से अपने मन मे झाँके तो वह जरूर कहेगा कि- 'हाँ, स्वर्ग भी मेरे मन का एक पर्याय है और नरक भी मेरे मन का एक विकल्प है।' मनुष्य के अन्तर्मन में उठने वाली प्रेम, दया, क्षमा और करुणा की तरगें ही जीवन का स्वर्ग है और उसके मन में उठने वाले कषाय, क्रोध और राग-द्वेष की सुलगती आग ही नरक है। ये सब मनुष्य के मन के पर्याय है। मैंने अपने मन के स्वर्ग को भी देखा है और मन के नरक को भी पहचाना है। जब-जब स्वयं को प्रेम और प्रमोद की तरंगों में जीता देखा तो उस स्वर्ग के आनन्द को पाया और जब-जब स्वयं को क्रोध के स्वरूप में देखा तो उतनी ही पीड़ा हुई, जितनी कि किसी व्यक्ति को नरक की आग में झोंके जाने पर होती है। तब मैंने उसी तरह स्वयं को पीड़ित और व्यथित अनुभव किया।

व्यक्ति स्वर्ग की आकांक्षा को संजोकर धर्म-कर्म करता है। धर्म इसलिए मत करो कि किसी आसमान में बसे हुए स्वर्ग में तुम्हे जाना है। तुम धर्म इसलिए करो कि तुम अपने ही भीतर बसे हुए स्वर्ग को ईजाद कर सको और नरक की झुलसती हुई आग को शान्त कर सको। जिस व्यक्ति का वर्तमान स्वर्ग होता है, उसका भविष्य स्वतः ही स्वर्ग बन जाता है और जो वर्तमान मे नरक का जीवन जी रहा है, उसे मृत्यु के बाद भी नरक जाने से कोई नहीं रोक सकता। ऐसा नहीं है कि आज जिस व्यक्ति ने मुनित्व स्वीकार कर क्रोध किया हो, वह मरकर ही 'चण्डकौशिक' सर्प बने, वरन् उसका आज का मुनित्व ही चण्डकौशिक का पर्याय होगा। कर्म आज बँधेगा और उसकी परिणति किसी चण्डकौशिक के जन्म और किसी सर्प की योनि मे होगी।

भविष्य उसी का स्वर्णिम है, जिसने अपने वर्तमान को स्वर्णिम बनाने का प्रयत्न किया है। स्वर्ग हमारे भीतर है, नरक भी हमारे भीतर है। पुण्य और पाप आदमी के जीवन के कार्य और परिणति के नाम नहीं हैं, वरन् जब-जब भी मनुष्य

का मन पाप की धाराओ में बहता है तो वह पापी है और जब-जब वह अन्तर्हृदय मे शुभ भावों को जीता है, तब-तब वह पुण्य की रसधारा मे जी रहा है। ऐसा नहीं कि हमारे द्वारा पाप का कार्य करने से ही पाप होगा। आदमी अपने जीवन मे सौ पाप करता है और अपराध दो ही करता है। जब मन मे छिपा पाप प्रकट हो जाता है तो वह अपराध बन जाता है और अपराध जब तक छिपा रहे, वह पाप कहलाता है। पाप मनुष्य के अशुभ मन की क्रिया है और अपराध मनुष्य के शरीर द्वारा की जाने वाली अशुभ प्रवृत्ति है। दुनिया मे अपराधो की सजा देने के लिए कानून है, दंड-व्यवस्था है, कोर्ट-कचहरी है, पर मन के पाप की सजा देने के लिए दुनिया मे कोई कानून नहीं है। दुनिया मे शायद अपराधो की सजा मिलती है, पर धर्म की न्यायशाला में शायद अपराध माफ भी हो जाएँ, पर पाप कभी माफ नहीं हो सकते। पापो का दण्ड देने वाली न्यायशाला स्वय की ही आत्मा है, भले ही अपराधों की सजा कोई कानून देता है।

व्यक्ति का अशुभ चित्त, अशुभ लेश्यामंडल ही उसे पाप का जीवन दे रहा है। व्यक्ति अपने जीवन में अपराध दो-पॉच या दस-बीस करता है, लेकिन पुण्य और पाप की, स्वर्ग और नरक की सैर प्रतिदिन, प्रतिक्षण करता रहता है। यदि आप ईमानदारी से अपने मन का निरीक्षण करे तो आप पाऍगे कि कितनी ही बार उसमें हिसा और प्रतिहिसा के भाव उठते है, कितनी ही बार आपने अपनी सास के गाल पर चॉटा लगाया है, कितनी ही बार अपने उग्र पति से मुक्त होने के लिए हत्या करने की सोची है और अपनी किसी जेठानी या देवरानी के लिए अशुभ विचारा है। आपने प्रकट मे तो किसी की हिसा नही की, किसी के साथ बलात्कार नहीं किया, किसी के साथ व्यभिचार और बुरा नहीं किया, फिर भी आपने ऐसा तो कर ही लिया; मन-ही-मन पाप कर लिया। यदि व्यक्ति अपनी तरफ से कोई सावधानी रखना चाहता है तो वह यह देखे कि मेरे मन मे कोई अशुभ विकल्प न उठे। जैसे कोई कछुआ किसी लोमड़ी को देखते ही अपने सिर को, शरीर की आगोश मे ले लेता है, समेट लेता है, उसी प्रकार जब कभी हमारे मन मे कोई पापवृत्ति उठे, तो गोपन कर लेना, गुप्त कर लेना अपने भावों को, चित्तवृत्तियो को, अपने मन को अपने ही भीतर समेट लेना और सोचना कि 'मै तो एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।' मेरा धर्म अपने आप पर अंकुश लगाना है। धर्म का आचरण और अवतरण तो किसी निर्मल चित्त मे ही हो सकता है।

मनुष्य का मलिन चित्त ही अधर्म है और मनुष्य का निर्मल चित्त ही उसका धर्म है।

चित्त की निर्मलता का नाम ही देवत्व है और चित्त की विकृति का नाम ही शैतानियत है। परमात्मा आकाश से उतरकर नहीं आने वाला और शैतान किसी पाताल से पीछा नहीं करने वाला। आदमी के गिरे हुए मन की अवस्था ही शैतानियत है और उसका सुधरा हुआ रूप ही भगवत्ता है। जब कोई साँप संस्कारित हो जाता है तो वह श्रावक बन जाता है और जब कोई श्रावक विकृत हो जाता है तो वह साँप बन जाता है। जब कोई विष सुधर जाता है तो वह अमृत बन जाता है और अमृत यदि विकृत हो तो वह विष बन जाता है। जब व्यक्ति का प्रेम उत्तेजित हो जाता है तो वह क्रोध और कामवासना बन जाता है और जव काम एवं क्रोध उदार हो जाते हैं तो वे दया और करुणा बन जाते हैं। जव दुनिया मे सागर का मंथन हुआ तो उसी सागर से अमृत निकला और उसी सागर से जहर भी निकला। क्रोध करने वाला कोई और नहीं होता और प्रेम करने वाला भी कोई अन्य नहीं होता। हम ही होते है जो कभी क्रोध के पर्याय को, तो कभी प्रेम के पर्याय को धारण कर लेते हैं।

हम ही होते हैं जो कभी अपना माथा, माँ के चरणो में झुका देते हैं और कभी अपने पाँव के जूतों को मॉ के सिर पर रख देते हैं। हम ही हमारे जीवन के आधार और कर्णधार हैं।

पुण्य कमाने के लिए किसी मन्दिर या दानशाला बनाने की जरूरत नहीं है। आपका मन ही आपको पुण्य और पाप दे रहा है। सुख और दुःख का सेतु या द्वार मन ही है। जो वस्तु किसी के लिए सुख का कारण होती है, वही वस्तु ही किसी अन्य के लिए दुःख का निमित्त बन जाती है। मेरी माँ कहा करती थी, 'वेटे, जब मुझे तीन सन्तानें वेटों के रूप में मिलीं, तो मैं यह सोचा करती थी कि चौथी सन्तान तो कम से कम वेटी हो।' आज जहाँ हर कोई वेटे की चाह करता है, मेरी माँ वेटी का सोचा करती, पर चौथी सन्तान 'चन्द्रप्रभ' हो गया। पाँचवीं बार फिर वेटी की आशा रखी, लेकिन फिर 'ललितप्रभ' हाथ लगा। जिस आदमी को जिस चीज की चाह होती है, कुदरत शायद वह उसे नहीं देती।

आप अपने कार्य से निवृत्त होकर घर के लिए रवाना हुए, आपको बडी तेज भूख लगी है। पत्नी ने भी आपके लिए गर्मागर्म भोजन तैयार कर रखा है। वह आप ही की प्रतीक्षा कर रही है कि आपको खिलाने के बाद वह स्वय भी भोजन करे। आप स्नानादि से निवृत्त होकर आएँ, तब तक पत्नी ने खाना लगा दिया। खाने मे भी चार-चार सब्जी, खीर, कचौडी और पूरी। आपके पुण्य का ही यह उदय था कि जो आपको इतने स्नेह से इतना अच्छा भोजन मिला है। आप खाने बैठते हैं और जैसे ही एक सब्जी से रोटी का एक ग्रास खाया, आप ग्रास थूक देते है, क्योकि सब्जी में नमक बहुत तेज था। थाली को पॉव से ठोकर मार कर पत्नी को डॉटते हैं, 'तुझे खाना बनाना भी नही आता। क्या यही सीखा था?' गाली बकते हुए आप घर के बाहर निकल जाते है। बेचारी पत्नी जिसने इतने प्रेम से आपके लिए सब कुछ बनाया था, वह दरवाजे पर खड़ी रह जाती है। पीछे से कोई भिखारी आता है और खाने की याचना करता है। पत्नी सोचती है कि ठोकर लगा हुआ भोजन है, कौन खायेगा ? यह सोच वह, खाना भिखारी को दे देती है।

भिखारी तो मानो आज राजा भोज हो गया। उसे चार-चार सब्जी, खीर, कचौरी, इतना सब कुछ जो मिल गया। वह खाना खाता है तो एक सब्जी में नमक उसे भी तेज लगता है तो वह दूसरी सब्जी चखता है, वह एकदम फीकी थी। उस महिला ने जब सब्जी बनाई थी तो गैस के दोनो चूल्हो पर सब्जियॉ चढ़ी थीं। उसने भूल से दूसरी सब्जी का नमक भी उसी एक सब्जी मे डाल दिया था, इसलिए एक फीकी रह गयी और एक ज्यादा नमकीन हो गयी। भिखारी ने समझदारी से काम किया। उसने फीकी और ज्यादा नमक वाली दोनों सब्जियो को मिला लिया जिससे नमक बराबर हो गया। उसने बडे आनन्द-भाव से भोजन किया और गृह-स्वामिनी को धन्यवाद दिया। जो भोजन एक के लिए क्रोध का निमित्त बना, वही दूसरे के लिए सुख का कारण बना। जो भोजन तुम्हे पुण्य का निमित्त होने पर मिला था, तुमने उसे पाप मे बदल दिया और जो भोजन, भिखारी को पापी होने के कारण मिला था, वह उसके लिए पुण्य का निमित्त हो गया।

तुम्हारे अपने ही चित्त की धारा में पाप और पुण्य की, सुख और दु:ख की गाथा छिपी है। यह गाथा जिस दिन आपको समझ मे आ जाएगी, उस दिन आपका स्वरूप कुछ और ही होगा। आज तो हम सौ रुपये के दान को ही पुण्य का कारण समझते हैं; किसी अस्पताल बनाने को ही पुण्य मानते है या किसी

सामायिक, प्रतिक्रमण या प्रार्थना को ही स्वर्ग का आधार स्वीकारते हैं। चूंकि मैं अपने जीवन के प्रति ईमानदार रहा हूँ और मै अपने मन को पढ़ता रहा हूं, इसलिए मैंने यह जाना है कि जितने पाप बाहर नही होते, उतने भीतर पल रहे है। कितनी बार व्यक्ति मन ही मन स्वर्ग में जाता है और कितनी बार नरक की सैर करता है। जब-जब वह अशुभ भावो में जीया, तब-तब वह नरकवासी बना और जब-जब शुभ संकल्पों का स्वामी बना, तब-तब उसने स्वर्ग की सैर की। एक ही दिन में व्यक्ति सैकड़ो बार नरक और स्वर्ग की सैर कर लेता है। इसे ऐसे समझें कि एक बिल्ली अपने मुँह मे कभी चूहे को दबाकर ले जाती है और कभी अपने मुँह में स्वयं के बच्चे को ही दबाकर ले जाती है, तो दोनो समय उसकी चित्त की दशा अलग-अलग होती है।

इसी तरह किसी व्यक्ति ने अपने दुश्मन को मारने के लिए उसके शर्बत मे यह सोचकर दो बूँद ज़हर मिला दिया कि आज सामने वाला मर ही जाए। दुश्मन ने उस शर्बत को पिया तो चमत्कार ही हो गया। वह कैन्सर का मरीज था और उस ज़हर ने कैन्सर के सभी कीटाणुओं को समाप्त कर दिया और वह एकदम स्वस्थ हो गया। परिवार वालो को पता लगा तो वे उस व्यक्ति को धन्यवाद देने पहुँचे कि आपने ऐसा क्या पिलाया जिसने हमारे बेटे को जीवनदान दे दिया ? आप तो बहुत महान् है। लोग कहेगे कि वह व्यक्ति पुण्यात्मा हुआ, जिसने किसी को जीवनदान दिया था। लेकिन नही, वह व्यक्ति पापी हुआ, क्योकि परिणाम क्या निकला, यह गौण है। पुण्य और पाप का आधार तो वह दृष्टि, वह लक्ष्य, वह चित्त और मन की दशा है जिसके चलते आपने कार्य किया है।

इसी प्रकार एक चिकित्सक किसी का ऑपरेशन कर रहा था। गलती से मरीज की कोई ऐसी नस फट गयी कि जिससे वह मरीज मर गया। आप कोर्ट मे जाकर उसके विरुद्ध मुकदमा दायर कर कह सकते हैं कि चिकित्सक हत्यारा है, उसने खून कर दिया। वह कानून की दृष्टि मे अपराधी जरूर हो सकता है, पर पापी नहीं, क्योकि उसका लक्ष्य ऑपरेशन कर जीवनदान देना था, मारना नहीं। व्यक्ति के अपने अन्तर्मन के अनुसार ही उसके पाप-पुण्य बँधते हैं। अगर व्यक्ति को सुगंधित साबुनों से कुछ साफ करना ही है तो वह अपने मन को धोए, साफ करे और निर्मल बनाए। हमारा मन ही स्वर्ग का आधार बने, इसी मे पुण्य का उद्यान लहलहाए। जो व्यक्ति ईमानदार होगा, वह अपने मन

को भली-भॉति पढ़ने के बाद यह कभी न कहेगा कि 'मेरे मन मे कभी पाप नही उठा।' पाप तो धरती पर सर्वत्र है। यदि पाप न हो तो हम सभी भगवान् बन जाते। वही व्यक्ति ईमानदार और प्रामाणिक होता है जो यह स्वीकार कर सके कि 'मेरे मन मे पाप है।'

बहुत प्यारी घटना है। जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा मे एक आचार्य हुए, जिनका नाम था आचार्य माघनन्दी। जीवन की उठापटक तो किसी सन्त या संन्यस्त के साथ भी हो सकती है। हम चाहे किसी की कितनी ही निन्दा कर लें, लेकिन कर्म का लिखा तो टाला नहीं जा सकता। आचार्य माघनन्दी किसी कुम्हार की कन्या के रूप पर आसक्त हो गए। उनका सन्यासी-जीवन धरा रह गया। वह उसके घर चले गए और वही रहने लगे। कहते है, कुछ समय पश्चात् उस राज्य में शास्त्रार्थ हुआ, जैन विद्वानो और मुनियो को अपनी हार निश्चित लग रही थी। वे जानते थे कि इस समय यदि शास्त्रार्थ मे कोई विजय दिला सकता है तो वे पुनः गृहस्थ बने हुए आचार्य माघनन्दी ही हैं। सघ के वरिष्ठ श्रावक एकत्र होकर माघनन्दी के पास गए और उन्हे नमन किया। जब माघनन्दी ने देखा कि संघ के वरिष्ठ श्रावक उन्हे नमन कर रहे है तो उन्होने कहा, 'आप मुझे नमन करते हैं ! मै तो अब इस योग्य नहीं हूॅ।' सघ ने कहा, 'आर्य ! हमारे हृदय मे आज भी आपके प्रति वही सम्मान है, क्योकि हम जानते है कि आचार्य माघनन्दी कभी गिर नहीं सकते, कभी पतित नहीं हो सकते। यह तो आपके अशुभ कर्मो के उदय और उसकी परिणति है कि आपको गृहस्थ मे आना पड़ा।'

यह सुनकर माघनन्दी आत्मग्लानि से भर गए और सोचने लगे कि सघ मेरे पतित होने के बावजूद भी मुझे इतना मान-सम्मान देता है।.. . तब शास्त्रार्थ मे माघनन्दी अन्य सभी विद्वानो को हराकर विजयश्री प्राप्त करते है और भरी सभा मे खड़े होकर कहते है कि विजय तो सघ की हुई है, जिसने मुझे गिरे हुए को पुनः उठाया और डूबे हुए को तिराया है। हकीकत तो यह है कि मै गिर गया था।

'मै पुण्य-रूप था, पाप बना,
मेरा जीवन है पक-सना।
गढ़नी थी उज्ज्वल मूर्ति एक।
पर मैं धुॅधला इतिहास बना।।'

मैंने किस लक्ष्य को लेकर अभिनिष्क्रमण किया था, इस विचार के आते ही बाहर का माघनन्दी मर गया और एक नए माघनन्दी ने जन्म लिया। उस माघनन्दी ने स्वयं की कर्म-निर्जरा के लिए जो पुरुषार्थ किया, वह आने वाली सैकड़ों पीढ़ियों को याद रहेगा। व्यक्ति जब अपने अन्तर्मन मे उतरकर अपने हृदय को पढ़ेगा, तब उसे यह ज्ञात होगा कि साफ और स्वच्छ कपड़ों के भीतर कौन शैतान छिपा हुआ है? यदि हमारे बाहरी चेहरे पर कोई दाग लग जाए तो हम बार-बार उसे धोकर साफ करने का प्रयत्न करते है। असली सन्त या ईश्वर की सन्तान तो वह है, जो अपने मन के दागो को साफ करने के लिए भी अहर्निश प्रयत्न करता है। पाप उसी के धुलते है, जो पहला चरण यह स्वीकार करता है कि उसके भीतर पाप है, क्रोध है, वासना की तरंग है। जो यह स्वीकार ही न करेगा तो उसके सातों जन्म तक वे संस्कार पीछा नहीं छोड़ेगे। भवदशा उसी की सुधरती है, जिसने अपनी भाव-दशा को सुधार लिया है। भाव सुधरे, तो भव अपने आप सुधर जाएगा।

पहली बात है आत्मावलोकन, स्वयं की जैसी भी स्थिति है उसकी स्वीकारोक्ति। लोग अपनी गलती, अपनी कमजोरी स्वीकार करने को भी तैयार नहीं होते। ऊपर से दिखाएँगे बहादुरी, भीतर जमी है कायरता। बाहर झलकाएँगे सौम्यता, भीतर पीड़ा का लावा सुलग रहा है। बातें कहेंगे प्रेम और अहिंसा की, भीतर वैर की गाँठें बाँधे बैठे हैं। व्यक्ति अपने प्रति ईमानदार हो, अपनी आँखों में धूल न झोंके।

स्वीकारोक्ति के बाद दूसरी बात है कि व्यक्ति उन निमित्तों से उपरत रहे, जो बार-बार चित्त को प्रभावित और उद्वेलित करते हैं। चित्त तो कालिख पुता है ही, पर चित्त के परिमार्जन के लिए उन निमित्तों से दूर रहना ही होगा जो कालिख पर और कालिख चढ़ाने का काम करते हैं। ध्यान रखें, जैसे ही निमित्त मिले, उद्वेलित करने लगे, तत्काल दृढ़ मनोबलपूर्वक, संकल्पपूर्वक उस पर अंकुश लगा लें। भले ही यह पहले चरण में दमन या शमन लगे, पर निमित्त कोई भी क्यों न हो, कुछ क्षणों के लिए प्रभावी होता है, पुनः उसका उद्वेलन शांत हो जाता है। यह शांत होना ही उसका रेचन है।

तीसरी बात, जिस निमित्त ने हमें प्रभावित किया, हम अपना ध्यान वहाँ से हटा लें। यदि उस पर अधिक गौर किया, तो वह वातावरण अपने भँवरजाल में

हमें ले बैठेगा। ध्यान ही मत दो, तो कोई गाली, तुम्हें गाली नहीं लगेगी। जैसे ही गाली को, वस्तु को, व्यक्ति को ग्रहण कर लोगे, उसके साथ राग-द्वेष जनित भाव निर्मित हो जाएँगे। तुम ग्रहण ही मत करो, पाप का उदय या अनुबंध निर्मित नहीं होगा।

बेहतर होगा, सदा अच्छे वातावरण मे, पुण्य परिवेश में रहो, ताकि अंधेरे का रोशनी पर प्रभाव न पड़ सके। अच्छे लोगों के साथ रहो, अच्छी किताबें पढो, विचारों को सुन्दर रखो, सबके प्रति सकारात्मक रहो, हँसमुख और सौम्य रहो। विपरीत वातावरण तो आएगा, पर हमारा नजरिया, सोच, प्रस्तुति, जीने की शैली हर विपरीतता पर विजय प्राप्त कर लेगी। विजय उसी की सार्थक होती है, जो अपने आपको जीत लेता है। आत्म-विजय ही परम विजय है।

❑

प्रेम से बढ़कर प्रार्थना क्या !

आज एक ऐसे विषय पर परिचर्चा होगी, जिसका उच्चारण करने भर से जिह्वा मधुर हो जाती है, आँखों मे चमक आ जाती है और मन मयूर की तरह नृत्य कर उठता है। मनुष्य जिस शब्द, भाव और आत्मीयता को पाकर एक अलग ही सुकून और तृप्ति पाता है, वह हमारे अपने ही जीवन में उठने वाला प्रेम है।

प्रेम संसार का सबसे मूल्यवान शब्द और भावदशा है। यही वह तत्त्व है, जिसके चलते संत वेलेनटाइन द्वारा किये गये बलिदान की स्मृति में 'वेलेन्टाइन-डे' मनाया जाता है। कृष्ण और जीसस मानव-हृदय की तस्वीर बने हैं। कबीर और मीरा के गीत अमर हुए हैं। तुलसी चंदन घिसते हैं और राम तिलक लगाते हैं। शबरी संसार में श्रद्धा की प्रतीक बन जाती है। हीर-रांझा, लैला-मजनूं के किस्से अमर हो जाते हैं। प्रेम, सचमुच धन्य है। बिना प्रेम के व्यक्ति तड़पता हुआ दिखाई देता है।

प्रेम की झील में ही मानस के हंस का विहार होता है। प्रेम ही तो जीवन का वह देवदूत है जिससे यह सारा जगत आनन्दित और परितृप्त होता है। कोई अगर कहे कि धरती की माटी बादलों के पानी की प्यासी होती है, तो मैं कहूँगा कि धरती पर रहने वाला हर प्राणी प्रेम का प्यासा होता है। कोई अगर कहे कि

जीवन की बारहखडी की शुरुआत 'अ, ब, स' से होती है तो मै कहूँगा कि जीवन की वारहखड़ी की शुरुआत तो प्रेम से होती है। कोई अगर पूछे कि जीवन मे से कौनसा तत्त्व निकल जाये तो जीवन व्यर्थ हो जाता है, तो आप कह उठेगे कि आदमी के जीवन से उसके प्राण निकल जाएँ तो आदमी का जीवन व्यर्थ हो जाता है पर अगर कोई मुझसे पूछे तो मै कहूँगा कि आदमी के जीवन से प्रेम-तत्त्व निकल जाए तो आदमी का जीवन व्यर्थ और मरणासन्न हो जाता है, भले ही उसके प्राण सुरक्षित रहे। जिसके पास प्रेम ही नही वह चलता-फिरता शव मात्र है। प्रेम ही जीवन का प्राण-तत्त्व है।

हमारे जीवन की पहली खासियत हमारा ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं, साधना की अन्तर्दृष्टि नहीं, प्रेम ही हमारे जीवन की पहली खासियत है जिसकी नीव पर ही हमारे जीवन का महल खड़ा है, जिसके बीज पर ही हमारे जीवन का बरगद विकसित हुआ है। प्रेम से ही जीवन की शुरुआत होती है और प्रेम पर ही जीवन की साधना की पूर्णता होती है। इन्सान के साथ किए गए प्रेम की शुरुआत, परमात्मा के साथ किए गए प्रेम पर पूर्ण होती है। अगर प्रेम है तो जीवन है और प्रेम नहीं तो जीवन भारभूत हो जाता है।

दुनिया के समस्त आश्रमो का हृदय प्रेम है। दुनिया के समस्त शास्त्रो का रहस्य प्रेम है और दुनिया के समस्त गुणो और व्रतो का सारभूत पिण्ड प्रेम है। प्रेम ही व्यक्ति के लिए प्रणाम बन जाता है और प्रेम ही व्यक्ति के लिए प्रसाद हो जाता है। प्रेम ही व्यक्ति के लिए उसके जीवन का आशीर्वाद बन जाता है। जब किसी का प्रेम औरों के प्रति सम्मान से भर जाता है, तो वही प्रेम प्रणाम बन जाता है और जब किसी का प्रेम कृपा से भर जाता है तो वही प्रेम प्रसाद और आशीर्वाद बन जाता है। प्रेम मे जहॉ हीर-रांझा, लैला-मजनूँ की विरह-व्यथा है, वहीं राधा-कृष्ण की रासलीला और राजुल-नेमि की मुक्ति-कथा भी है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को प्रेम से अलग कर लिया, उस व्यक्ति का जीवन वैसे ही हो जाता है जैसे कि बालू मिला भोजन हो। बालू मिला भोजन जिस तरह अग्राह्य और नीरस होता है, वैसे ही प्रेमविहीन व्यक्ति का जीवन रसहीन हो जाता है। जिस धर्म ने अपने सिद्धान्तों की बुनियाद प्रेम पर रखी है, वह धर्म धरती पर अमर हो जाता है। जिस धर्म ने अपने आपको प्रेम से अलग कर दिया है, वह धर्म भी बेस्वाद हो जाता है।

हम अगर किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर से भोजन करा रहे हैं, तो महत्त्व इस वात का नहीं है कि हम क्या भोजन करा रहे है, कौन-सा पकवान खिला रहे है ! महत्त्व इस वात का है कि कितने प्रेम से हम भोजन करवा रहे है। भोजन मे कभी भी स्वाद मिर्च-मसालो से नहीं आता। स्वाद तो वनाने वाले के प्यार और भावनाओं से ही आता है। उस प्रेम के चलते ही तो कभी भगवान कृष्ण को भी विदुर की साग-सव्जी भी अच्छी लग गयी थी जिसके आगे दुर्योधन के मेवे भी ठुकरा दिये गए।

दुर्योधन घर मेवा छाँडे, साग विदुर घर खाई।
सवसौ ऊँची प्रेम सगाई ।।

श्रीकृष्ण दुर्योधन के घर मेवा और पकवान का त्याग कर देते हैं और विदुर के घर बनी हुई बिना मिर्च-मसालो की सव्जी भी उन्हें सुहा जाती है। जो पकवान को महत्त्व देते हैं, वे केवल दैहिक जीवन जीते है, वे लोग जीभ के लोलुप हैं। जो लोग प्रेम एवं भावनाओ को महत्त्व देते है, वे भगवान राम की तरह शवरी के वेर भी बड़ी आत्मीयता के साथ स्वीकार कर लेते हैं। उनके जीवन में तो वे जूठे वेर भी बड़े आनन्द दे जाया करते है जितने कि तुम्हारी मिठाई और पकवान भी न देते होंगे। मन्दिर में तुम्हारे द्वारा चढ़ाई जाने वाली सौ-सौ मिठाइयाँ शायद वे स्वीकार न कर पाते, पर मुँह से आधे तोड-तोड़ कर खिलाए जाने वाले वे वेर राम वड़े प्यार से ग्रहण कर लेते हैं।

भक्त भूल जाता है कि उसे भगवान को केला खिलाना है। विदुर-पत्नी भूल गई कि मुझे भगवान को तो केला खिलाना था। वह केले छीलती गई। छिलके तो भगवान को पकड़ाती गई और केले फेंकती चली गई। अरे, भगवान तो उन छिलकों को भी वडे प्यार से खा लेंगे अगर तुम उन्हें प्यार से खिलाओ तो। उस खिलाने का मतलव ही क्या होगा, जव तुम पहले उन्हें भर पेट खिलाओ और फिर खरी-खोटी सुनाओ। भोजन रस देता है, पर भोजन से ज्यादा रस तो प्रेम से मिलता है। असली ताकत तो प्रेम से मिलती है। अगर जीवन मे प्रेम है तो शक्ति है, वरना जीवन भी शव है।

मैं एक वच्ची के जीवन की आत्मकथा पढ़ रहा था। उस आत्मकथा का एक छोटा-सा अंश मैंने पढ़ा तो मैंने सोचा कि ओह ! जीवन का कितना खूबसूरत सच है यह। मैंने देखा कि उस वच्ची के माता-पिता नौकरी के लिए जाते और उन्हें

बिटिया को बालवाड़ी छोड जाते, उसकी देखभाल और पढाई के लिए। जब बच्ची को उस सेन्टर पर छोडकर आपस मे अलग होने लगते तो मॉ-बाप उस बच्ची का हाथ अपने हाथो मे लेते और बड़े प्यार से उसके हाथो को अपने होठो से चूमते। यही प्रक्रिया वह बच्ची भी दोहराती। वह बच्ची अपने मम्मी-डैडी के हाथो का प्यार भरा चुम्बन लेती। मॉ-बाप चले जाते और बच्ची बालवाड़ी मे अकेली रह जाती।

जब कभी उस बच्ची को अकेलेपन का अहसास होता और अपने मम्मी-पापा की याद सताती तो वह एक काम करती। वह अपने हाथो को अपनी जेब मे डाल देती। उसे ऐसा लगता कि उसकी सारी जेब मम्मी-पापा के प्यार भरे चुम्बनों से भर गई है। जब उसे अकेलापन अनुभव होता और वह रूँआसी हो जाती तो झट से जेब में हाथ डालती, एक चुम्बन निकालती और बड़े प्यार से उन हाथों को अपने होठो से लगा लेती। इस तरह उस बच्ची को कभी अकेलापन नहीं खटका। आप कहेगे कि जेब से क्या निकला? जेब तो खाली थी। पर कितना खूबसूरत भाव है यह कि बच्ची अपने जेब में हाथ डालती, बाहर निकालती, होठो से लगाती और अपनी मम्मी-पापा के प्यार का अहसास कर तृप्ति पा लेती। यह प्रेम का सुकून है, प्रेम का सुख है, प्रेम की परितृप्ति है।

लोग प्रेम करने से इसलिए डरते हैं कि हमने प्रेम किया और बदनामी हो गयी, तो? जो आदमी बदनामी से डर गया, वह अपने जीवन मे प्रेम करने का साहस और सुख नहीं पा सकता। प्रेम के साथ भय का क्या काम? अपनी ओर से सारी दुनिया से प्रेम करोगे और बदले मे खरी-खोटी सुनने को मिल गई तो यह बात ध्यान मे ले आना कि गुलाब बिना कॉटो के नही उगता है। जीवन मे किसी को भी प्रेम का फूल खिलाने के लिए कॉटो से तो गुजरना ही पडता है। इसलिए प्रेम की यह डगर केवल सुख ही नहीं देती, बड़ी पीडा भी देती है। मीराँ जैसी सच्ची साधिका ही जानती है कि यह पीड़ा कितना सुख और सुकून देती है। अगर प्रेम का बीज अपने जीवन मे बोओगे तो फूल भी लगेगे, फल भी होगे, सुवास भी मिलेगी, लेकिन इसमे पहले कॉंटे उगेगे। प्रेम, आखिर त्याग और समर्पण के धरातल पर ही जन्म लेता है, परिपक्वता पाता है।

अगर एक परिवार के बीच भी त्याग, समर्पण, एक दूसरे के प्रति भाईचारा और हिस्सा बॅटाने की भावना है तो वहॉ प्रेम एकता, भाईचारे और, एक दूसरे

को अपनाने का आधारसूत्र बनेगा। आपने एक कहानी अवश्य पढ़ी होगी- 'सूखी डाली'। कहानी में परिवार का बूढा दादा पूछता है कि हमारे परिवार में कौन अलग होना चाहता है? पता चलता है कि नई बहू जिसे पुराने रीति-रिवाज, पुराने सोफे आदि बर्दाश्त नहीं हैं, अपना परिवार अलग बसाना चाहती है। तब मुखिया कहता है कि परिवार तो एक वृक्ष की भाँति होता है जिसकी एक डाली को भी पानी नहीं मिला तो उससे पूरा वृक्ष प्रभावित होगा। कोई भी एक डाली तभी सूख पाएगी जब जड़ें सूख जाएँगी, जड़ें कमजोर हो जाएँगी। आज तुम्हारा फर्ज बनता है कि तुम अपनी ओर से त्याग और समर्पण का मार्ग स्वीकार करो। अगर तुम्हे अपने परिवार के वृक्ष को हरा-भरा बनाए रखने के लिए अपने परिवार की एकजुटता के लिए, अपने पुराने रीति-रिवाजो का त्याग भी करना पड़ता है तो बेझिझक वह भी कर डालो। किसी भी परहेज़ के प्रति आग्रह न रहे, विवेक रहे। क्षेत्र चाहे प्रेम का हो या परिवार का, त्याग तो चाहिए ही। सहिष्णुता का कवच तो चाहिए ही। प्रेम जहाँ समर्पण चाहता है, वहीं निर्भयता और विशाल हृदयता भी।

प्रेम के साथ भय कैसा? प्रेम तो सदैव सार्वजनिक होता है। जैसे ही तुम अपने प्रेम को छिपा लेते हो, वह पाप बन जाता है और अगर तुम उस प्रेम को ज़ाहिर कर देते हो, तो वह प्रेम तुम्हारे लिए पूजा बन जाता है। जापान की झेन परम्परा की एक बहुत प्यारी-सी कहानी है। उनकी जितनी भी कहानियाँ हैं, वे बड़ी रहस्यमय हैं। दिखने में वे कुछ और होती हैं, पर उनकी सम्प्रेषणीयता और भाव कुछ अलग ही होते हैं।

कहते हैं कि एक झेन विद्यालय मे एक छात्रा ईशून और बीस विद्यार्थी ध्यान के बारे में अभ्यास कर रहे थे, ध्यान की विद्या सीख रहे थे। ईशून बहुत खूबसूरत थी। जिस किसी के मन को भी डॉवाडोल कर दे, उसका कण्ठ इतना सुरीला था। एक विद्यार्थी ईशून के स्वर, सौन्दर्य और अदाकारी पर इतना मुग्ध हो गया कि एक दिन उसने ईशून के नाम एक पत्र लिखा। पत्र में ये भाव प्रकट किये कि मैं तुमसे एकात में मिलना चाहता हूँ। ईशून ने पत्र पढा, लेकिन कोई जवाब नहीं दिया।

अगले दिन जब गुरु उन्हें ध्यान की विधि और प्रक्रिया सिखा चुके, उनका भाषण और व्याख्यान हो गया, तो ईशून उन सारे विद्यार्थियों के बीच में खड़ी हुई। उसने खड़े होकर उस युवक की ओर इशारा करते हुए जिसने पत्र लिखा था,

कि 'हॉ, क्या तुम मुझसे सच मे प्यार करते हो? अगर ऐसा है तो मै चाहती हूँ कि तुम यहाँ सबके बीच खडे होकर इस भरी हुई मजलिस के बीच मुझे अपनी बॉहो मे भरो। वह साधक खड़ा न हो पाया। हर इन्सान अपने जीवन मे प्रेम की सौगात तो चाहता है, पर उसके लिए शहादत देना कोई नही चाहता। तब उस ईशून ने जो बात कही, वही झेन-परम्परा का मानो सन्देश बन गया, वह था—'इफ यू लव, लव ओपनली'।

यदि तुम किसी से प्रेम करते हो तो उस प्रेम को सार्वजनिक रखो। यदि तुम उस प्रेम को छिपा दोगे तो वह तुम्हारे लिए पाप और अभिशाप बन जाएगा। वह प्रेम तुम्हें दुःख, तनाव और घुटन देगा। वह प्रेम तुम्हारा पतन करेगा।

जो प्रेम सदा सार्वजनिक रहता है, वह बदले मे देह नही चाहता। वह तो हृदय के बदले हृदय चाहता है; अन्तरात्मा के बदले अन्तरात्मा का सुकून और समर्पण चाहता है। मेरी समझ में, प्रेम से बढकर कोई धर्म होता ही नही है। दुनिया के सारे धर्म अन्तत: प्रेम मे तब्दील हो जाते है। कोई कितना ही बडा साधक क्यों न हो, उसे मानवता की सेवा के लिए आगे आना ही पडेगा और तब उसे लगेगा कि प्रेम की शुरुआत मानव से हुई और पूर्णता परमात्मा पर जाकर मिली। जिस प्रेम की पूर्णता परमात्मा मे जाकर हुई, वही प्रेम मनुष्य मे जाकर प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसलिए चाहे कोई अवतार हो, कोई तीर्थकर हो, कोई बुद्ध हो, प्रेम और करुणा के धरातल पर हर किसी को अपने कदम रखने पड़े हैं।

अगर कोई धर्म कहता है कि 'अहिसा परमो धर्मः', तो मै कहूँगा कि प्रेम का सकारात्मक रूप ही अहिसा है और उसका नकारात्मक रूप ही हिसा है। अहिसा का अर्थ है कि किसी की हिसा मत करो। मूल्य इस बात का नहीं है कि तुमने किसी की हिसा की या नही, मूल्य इस बात का है कि तुमने किसी को सुख पहुँचाया या नहीं। माना कि जीवन एक ऐसा पुष्प बन जाए जिसमे कोई दुर्गन्ध न हो, पर फूल तो वही है जिसमे सुगन्ध भी हो। किसी फूल मे दुर्गन्ध का न होना अच्छी बात है, पर उसमे सुगन्ध का होना उसका अपना वैशिष्ट्य है। माना तुमने अपने जीवन मे किसी की बुराई न की हो, पर भलाई भी तो नहीं की। बुरा न चाहना, अच्छा पहलू है, पर अच्छा करना उससे भी बेहतरीन पहलू है। अगर तुमने दो बुराई की और चार भलाई की, तो तुम 'प्लस' मे रहे, पर अगर

भला-बुरा दोनो ही न किया तो न तो तुम 'प्लस' में रहे और न ही 'माइनस' मे। अहिंसा तभी जीवित रहती है जब हम अहिंसा को प्रेम मे तब्दील करते हैं।

अगर कोई पूछे कि अहिसा का व्यावहारिक रूप क्या है, तो मै कहूँगा कि दया, प्रेम, करुणा ही अहिंसा का व्यावहारिक रूप है। तुम लिखते जाओ, कहते जाओ कि 'अहिंसा परमो धर्मः', 'हम किसी की हिंसा नही करते', पर अकेले मे बैठकर सोचना कि अगर तुमने किसी को पीड़ा नही पहुँचाई, तो किसी को खुशियॉ भी तो नहीं बाँटीं। आपने किसी को खुशियाँ नहीं दी, तो प्रेम अहिसा का विस्तृत रूप कैसे हो सकता है? कोई अगर कहे कि मुझे अहिंसा को जीना है तो मै कहूँगा कि तुम प्रेम को जीओ। अहिंसा को साधने से प्रेम सध जाए यह जरूरी नहीं है, पर जिसके जीवन में प्रेम सध गया, वह अहिंसा को तो स्वयं ही साध लेता है।

महावीर का वक्त था, तब अहिसा पर जोर देना जरूरी था। राम का वक्त था, तब मर्यादा पर जोर देना जरूरी था, पर आज हम जिस युग मे जी रहे है, वह उनसे भी चार कदम आगे है। आज हर इन्सान, हर प्राणी को अहिंसा से भी अधिक प्रेम की प्रेरणा देनी जरूरी है। तुम जब अपने बच्चे से मिलते हो तो क्या करते हो? उससे प्रेम करते हो। जब एक गाय अपने बछड़े से मिलती है तो वह भी प्रेम करती है। जब किसी बिल्ली की मृत्यु हो जाए और एक कुतिया उसे दूध पिलाए तो वह क्या करती है? वह भी प्रेम ही तो है। तुम हटा न पाओगे प्रेम को अपने जीवन से और जीवन की किसी दैनन्दिनी क्रिया से, क्योंकि प्रेम अहिसा का सकारात्मक रूप ही तो है। यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि हमने सारी शक्ति को केवल युद्धो में खर्च कर दिया और हम अपनी शक्ति को करुणा, दया और प्रेम के लिए न खर्च कर पाए।

आज की तारीख में भी दुनिया की तीन चौथाई से भी अधिक शक्ति केवल युद्ध, युद्ध की तैयारियों, शस्त्र और अस्त्रो में ही लगी है, पर क्या कोई भी शस्त्र या युद्ध दुनिया में शान्ति कायम कर पाया है? महावीर और बुद्ध को अवतरित हुए पच्चीस सौ साल हो चुके है और इन पच्चीस सौ वषो में पॉच हजार से भी अधिक युद्ध हो चुके। इन हजारो युद्धों मे से किसी भी युद्ध ने शान्ति कायम नहीं की। धरती पर एक मात्र अशोक ही वह सम्राट् हुआ जिसने कलिंग का युद्ध जीतने के पश्चात् हमेशा-हमेशा के लिए युद्ध को धरती से हटाने का संकल्प कर

लिया। युद्ध के द्वारा जितना वह साम्राज्य स्थापित कर पाता उससे भी अधिक साम्राज्य उसने इंसानियत, अहिसा और प्रेम के द्वारा विस्तृत किया। यही कारण है कि धरती पर इतने सम्राटो की शृखला मे एकमात्र अशोक का नाम ही इतने गौरव के साथ लिया जाता है कि जिस पर स्वय अहिसा को गर्व और नाज है।

विश्व मे शान्ति की स्थापना करने वाले महानुभावों को प्रतिवर्ष नोबल पुरस्कार प्रदान किया जाता है। क्या आप जानते है कि नोबेल पुरस्कारो की नीव कैसे पड़ी? कहते हैं कि अल्फ्रेड नोबेल ने डाईनामाईट का आविष्कार किया और बतलाया कि किसी भी बम का विस्फोट कैसे हो? कोई चूक ही समझे, पर इस चूक से दुनिया का शायद कोई भला ही होना लिखा था। एक बार जब अल्फ्रेड नोबेल नींद से उठा और उसने पढने के लिए अखबार उठाया तो वह चौक पडा क्योकि अखबार की सुर्खी थी कि अल्फ्रेड नोबेल नहीं रहा। वह चौंका कि मैं तो जीवित हूँ और यहॉ छपा है—अल्फ्रेड नोबल न रहा, उसका असामयिक निधन हो गया। उसने सोचा कि जरूर कोई चूक हुई होगी, कोई और अल्फ्रेड नोबेल मरा होगा और किसी ने अखबार वालों को फोन कर झूठी खबर दे दी होगी कि अल्फ्रेड नोबेल चल बसा। उसने सोचा कि जरा मै पूरा समाचार तो पढ़ूं कि मेरे मरने के वाद लोग मुझे किस रूप में याद रखेगे? अल्फ्रेड नोबेल ने वह समाचार पढा तो वह चौंक पड़ा, क्योंकि उसमें लिखा था—'वह अल्फ्रेड नोबेल जिसने डाईनामाईट का आविष्कार किया, मौत का सौदागर था।' अपने बारे मे यह पढकर उसे ऐसा लगा कि क्या आने वाला समय उसे मौत के सौदागर के रूप मे ही याद करेगा? बस, अखबार में छपे इस समाचार ने उसके जीवन को ऐसा बदला कि उसके बाद उसने धरती पर शान्ति स्थापित करने के लिए जो प्रयास किए, वे सदा-सदा के लिए प्रेरणास्पद और स्मरणीय बन गए और उसी के चलते उसने नोबेल पुरस्कार प्रारम्भ किए।

यहॉ सिकन्दर याद नहीं रखा जाएगा और न यहॉ सिकन्दर, नेपोलियन, चगेज खॉ या हिटलर की पूजा होगी। यहॉ तो सदैव प्रेम के अवतार कृष्ण, बुद्ध, महावीर और जीसस पूजे जाएँगे। धरती पर वे लोग अमर नही होते जो कि युद्ध लड़ते हैं। धरती पर वह लोग अमर होते है जो प्रेम का जीवन जीते है, अपनी ओर से मानवता को प्रेम की सौगात दे जाते हैं।

युद्ध तो अपने आप में एक समस्या है। यह भला क्या समाधान देगा ! इसने तो सदा धरती के सुखों को खंडित ही किया है। धरती पर शांति का आधार है—अयुद्ध, अहिंसा, भाईचारा।

जग तो खुद ही एक मसला है,
जग क्या खाक मसलो का हल देगी !
इसलिए ए शरीफ इन्सानो,
जंग टलती रहे तो बेहतर है।
हम और आप सभी के ऑगन में
शमा जलती रहे तो बेहतर है।

अब तो प्रेम और शाति की शमा जले, अहिंसा का दीप जले, करुणा का कंदील जले, तो ही धरती का कल्याण हो पाएगा। इस सदी ने दो-दो विश्व युद्ध झेले हैं। अब तो शांति चाहिए। एक-दूसरे के सुख-दुख में सहभागिता चाहिए।

बरतरी के सुबूत की खातिर
क्या खूँ बहाना ही जरूरी है !

केवल इस बात के लिए कि तुम बड़े हो या मै, दोनो मे से कौन समर्थ है? खून बहा देना—लड़ाई-झगड़े पर उतर आना नासमझी है।

घर की तारीकियाँ मिटाने को,
घर जलाना ही क्या जरूरी है ?

माना हमारे घर, परिवार, देश या समाज मे अन्धेरा है, पर क्या यह बेवकूफी नहीं है कि अपने धर के अन्धेरे को दूर करने के लिए घर को ही आग दो। माना घर के अन्धेरे को दूर करना जरूरी है, पर घरो को जलाकर, उनमें आग लगाकर नहीं, बल्कि अहिसा व प्रेम का दीप जलाकर अंधेरे को दूर किया जाए।

जंग के ओर भी तो मैदॉ है,
सिर्फ मैदाने कुस्तखूँ ही नहीं।

लड़ना ही है ना। जानता हूँ कि वार-वार हमारा ईगो (अहं भाव) उठ आता है और हम लड़ने के लिए तैयार हो ही जाते हैं। कोई एक ही लड़ाई थोड़ी है कि हम जाएँ और कुश्ती करने लगें।

हासिले जिन्दगी खिरत भी है,
हासिले जिन्दगी जुनूॅ ही नही।

जिन्दगी खैरियत भी है, जिन्दगी एक दूसरे से प्यार करने का तोहफा भी है, जिन्दगी एक दूसरे को गले लगाने का नाम भी है। जिन्दगी कोई जुनून नहीं है कि हम एक-दूसरे से लड़ पडें, भिड पडों, मर पडें।

आओ इस पीडा वक्त दुनियॉ मे
ऐसी जगों का इतजाम करे।
अमन को जिससे तकवियत पहुॅचे
ऐसी जगों का एहतमाम करे।

आओ, अब तो ऐसी जंग, ऐसे युद्ध का इतजाम करें कि जिससे अमन-चैन कायम हो, शांति की स्थापना हो। हमें लड़ना है तो औरो से न लडे, बुराइयों से लडें, अपने क्रोध, वैर-वैमनस्य, दुःख और दौर्मनस्य से लडें। अपने क्रोध-कषाय को दूर करें। यह युद्ध ही हमें वास्तविक विजेता बनाएगा। यही विजय ही परम विजय है। युद्ध की भाषा बहुत हो गई, आओ, अब हम अयुद्ध की भाषा सीखें।

हम इन्सान हैं, प्रेम करें, इन्सान के काम आना सीखे। लडने-लडाने के काम तो जानवरों के लिए छोड़ दो। जाति भाई से लड़ने वाले तो कुत्ते होते हैं। क्या हम कुत्तों से भी बदतर है? अगर दोनो मे कोई फर्क करना है तो तुम लड़ाई झगड़ों को, जातिभाई से लड़ने की बातो को किनारे फैको। सब हिल-मिल जाओ, गले लग जाओ।

रमजान के पवित्र महीने मे मुसलमान रोजे रखते है और एक दूसरे को गले लगाते है। कितना खूबसूरत भाव है यह ! बाप बेटे को गले लगाता है, बेटा अपने दादा को गले लगाता है। कितना जीवित पर्व है यह कि हम एक-दूसरे को गले लगा रहे हैं। किसी से मिलो तो प्रेम से गले लगाओ। अगर हृदय मे प्रेम की हिलोर उठ रही है तो गले लगा लो, अपना बेटा जो पास मे बैठा है उसका माथा चूम लो। देखो कितना सुकून मिलता है। अगर किसी बगीचे मे यदि कोई कोई फूल खिला है तो उसे तोड़ने की चेष्टा मत करो। उसे छूओ, चूमो और उसकी प्रशसा करो। आप पाएँगे कि वह फूल आपको बहुत बड़ा सुख दे गया, आपके हृदय की कली-कली खिला गया।

जिस प्रेम की शुरुआत इन्सान के साथ होती है, उसका विस्तार प्राणी मात्र के प्रति प्रेम के साथ होता है और उस प्रेम की पूर्णता परमात्मा पर जाकर होती है। मनुष्य के साथ प्रेम करने की बात इसलिए की जा रही है ताकि तुम सूक्ष्म के साथ, अदृश्य के साथ प्रेम करना सीख सको। जब तुम स्थूल के साथ प्रेम नहीं कर पा रहे, जिनके साथ जीते हो उनसे प्रेम नही कर पा रहे हो तो परमात्मा के साथ प्रेम करोगे भी तो कैसे? हर मनुष्य से प्रेम करे। हम जितना प्रेम अपने बच्चे से करते हैं, उतना ही प्रेम कभी किसी अनाथाश्रम जाकर किसी अनाथ बच्चे से भी करें। आपको पता है कि जब हम लोगों का जन्मदिन होता है तो हम क्या करते हैं? तब हम स्वयं किसी अनाथाश्रम मे जाते है और वहॉ रहने वाले सभी बच्चो को अपने पास बुला लेते हैं। हम से अधिक स्नेह रखने वाले जो लोग होते हैं, ऐसे सौ-पचास लोगों को साथ ले जाते हैं। अनाथालय में बच्चो को सवेरे का स्नान भाई-बहिनो से कराते है। उन्हे नए वस्त्रादि पहनाते हैं, तब सभी को पक्तिबद्ध बैठाकर उनसे कहा जाता है कि 'तुम अपने हाथ नीचे रखो। आज तुम्हें हम अपने हाथ से खाना खिलाएँगे। फिर सभी महिलाएँ एवं पुरुषो का यही काम होता है कि उन्हें अपने हाथ से भोजन कराएॅ। भोजन कराने के बाद उन्हे तोहफे बाँटे जाते है, उनका माथा चूमा जाता है। उन अनाथ बच्चों के माथे को चूमने से जो सुख या सुकून मिलता है, वह सुख और कहाँ मिल सकता है !

उसके बाद हम जाते हैं अस्पताल मे। सुबह जो दो-पाँच सौ किलो मौसम्बी या नारगी हमने मंगा रखी है, उनमें से प्रत्येक मरीज के पास चार नारंगी या सेव पहुँचाते हैं। जन्मदिवस मे शायद हम कुछ नहीं खा पाते होगे, पर सच कहता हूँ इससे जो सुकून मिलता है, जो आनन्द और परितृप्ति मिलती है, वह इस बात का अहसास दे जाती है कि हमारी प्रार्थना पूर्ण हुई। तब हमारा अन्तर्मन कह उठता है कि प्रेम से बढ़कर अन्य प्रार्थना और क्या होगी !

मन्दिरों में जाकर की जाने वाली प्रार्थनाएॅ अधूरी रह जाती हैं मगर जब उन असहाय-बेबस इन्सानो से प्रेम करते हैं, शाम को गुड़ के लड्डू बनाकर गौशाला तक भिजवाते हैं तब लगता है कि प्रार्थना पूर्ण हुई और ईश्वर की आराधना सपन्न हुई (मनुष्य के साथ प्रेम की शुरुआत, प्राणिमात्र के साथ उसका विस्तार और परमात्मा मे जाकर पूर्णता और समर्पण—यही है प्रेम की वास्तविक यात्रा। ऐसा प्रेम ही आदमी के जीवन को पूर्णता देता है।

जब प्रेम श्रद्धा, त्याग और समर्पण बन जाता है तो सत्यभामा को भी सिर नवाना पडता है। सत्यभामा ने प्रतिस्पर्धा मे पड़कर श्रीकृष्ण से कहा कि 'हे परमेश्वर ! आज मै आपको सोने के आभूषणो और मुहरो से तौलूॅगी। आप तराजू के एक पलडे पर बैठ जाएँ और मै दूसरे पलडे पर सोने के गहने रखूॅगी। आज मै अपने पति को अपने ही गहनों से तौलूॅगी।' यह प्रतिस्पर्धा सत्यभामा अन्य सभी रानियो के समक्ष रख देती है कि तुम्हे भी ऐसा ही करना है। देखते है कि कौन-कौन अपने पीहर से कितना-कितना माल लेकर आई है? उस समय कृष्ण भारी पड़ते है या कि उनके पीहर से लाया हुआ माल? और तब सत्यभामा अपने पीहर से लाए हुए सारे गहने, सारा सामान एक पलड़े पर रख देती है। फिर भी वह पलड़ा भारी रहता है, जिसमे श्रीकृष्ण विराजमान थे। सारी रानियाँ अपने सारे जेवर लाकर उस पलड़े पर चढा देती है फिर भी श्रीकृष्ण का पलड़ा भारी रहता है। सत्यभामा को काटो तो खून नहीं। वह अपनी हार मान लेती है और अपने सारे जेवर उठा लेती है।

रुक्मिणी को, जिसे सारी रानियो ने उपेक्षित कर रखा था, वे सभी कहती हैं कि 'अरे ! तुम भी तो श्रीकृष्ण को तौलो।' रुक्मिणी कहती है कि 'सत्यभामा ! मेरे पास तो कुछ भी नही है जिससे मै भगवान को तौल सकूॅ। मेरे गले मे तो भगवान के नाम की सिर्फ तुलसी की एक कण्ठीमाला है। मेरे पास तो कोई स्वर्णाभूषण भी तो नहीं हैं। लेकिन जब सत्यभामा ने दबाव डालते हुए विपरीत टिप्पणी कर डाली तो रुक्मिणी तराजू के पास आई। उसने देखा कि तराजू के पास तुलसी का एक छोटा-सा पौधा है। तुलसी के पौधे से उसने चार पत्तियॉ तो़ड़ीं, उन्हें अपने हाथो मे लिया, हृदय से लगाया और 'श्रीकृष्ण शरणं मम' कहकर उसे उस पलडे पर रख दिया। चार पत्ते भारी पड गये और श्रीकृष्ण हल्के हो गए।

यह है बात त्याग, प्रेम और समर्पण की।

कहते हैं कि उद्धव, श्रीकृष्ण से रोज झमेला करते थे कि तुम भी कितने पागल हो जो इतनी सारी गोपियों के पीछे पडे रहते हो और ये गोपियॉ भी कितनी बददिमाग है, जो तुम्हारे पीछे पागल है। एक दिन श्रीकृष्ण ने लीला रची और कहा कि 'हे उद्धव, आज तो मेरे पेट मे बडा दर्द हो रहा है। जरा तुम वैद्यराज को बुलाकर लाओ ताकि मेरे पेट का दर्द ठीक हो जाए।' वैद्य भी कृष्ण का समझाया

हुआ था। वैद्य ने कहा कि 'सब कुछ देख लिया, पर कुछ इलाज नहीं सूझता। एक टोटका अवश्य है कि यदि महारानियो के पॉवो की धूल इकट्ठी करके उसे पानी मे घोलकर कृष्ण को पिला दी जाए तो कृष्ण का दर्द ठीक हो सकता है।' उद्धव सत्यभामा सहित सभी रानियो के पास गये। सत्यभामा ने कहा कि 'उद्धव, हमे यह तो मालूम है कि तुम काम तो सदा ही उल्टे करते हो, पर यह कैसा उल्टा काम ! यह तो हम नहीं कर सकते कि अपने श्रीकृष्ण को, अपने पाँवो की धूल पानी में घोलकर पिलाऍ ! हमें क्या नरक में जाना है ? हमें परभव की भी तो कुछ चिन्ता करनी है।'

उद्धव वहाँ से नकार दिया गया तो श्रीकृष्ण के पास आया। कृष्ण ने पेट-दर्द का अभिनय करते हुए कहा कि 'अरे ! जरा तुम गोपियों के पास जाकर उन्हें कहो, शायद वे दे दें।' उद्धव कुँजगलियों में पहुँचे। राधा और सारी गोपियाँ उद्धव को देख कर दौड़ी–दोड़ी आई और कहने लगीं कि 'अरे उद्धव, कहो कि हमारे कृष्ण, गिरधर गोपाल कैसे है?' उद्धव ने कहा 'तुम्हें क्या समाचार दूँ। नरक मे जाने के समाचार लाया हूँ।' स्थिति बताते हुए उद्धव ने कहा कि 'यदि तुम पाँवो की धूल उतार कर दे दो तो श्रीकृष्ण के पेट का दर्द ठीक हो जाए।' यह सुनते ही सारी गोपियाँ एक साथ बोलीं कि 'यह तो बहुत अच्छा संदेश है।' उन्होने झट से अपना पल्लू फैलाया और सभी ने अपने-अपने पाँव उस पर झाड़ दिये। तव उद्धव ने कहा कि 'अरे ! कुछ तो सोचो कि यदि तुमने अपने पति, अपने सखा और अपने परमेश्वर को अपने पाँवों की धूल पानी में घोलकर पिलाई तो तुम्हें सात-सात बार नरक में जाना पड़ेगा।' गोपियों ने कहा कि 'उद्धव, तू तो पागल हो गया है। अपने परमेश्वर की खातिर सात जन्म तो क्या यदि हमें सारा जीवन ही नरक मे बिताना पड़े तो हम तैयार हैं।'

तब उद्धव को बात समझ आई कि गोपियॉ श्रीकृष्ण पर ऐसे ही लट्टू नहीं हैं। यह प्रेम नहीं, यह तो प्रेम की पूर्णता है। यह ऐसी पूर्णता है जहाँ व्यक्ति भगवान के श्रीचरण में जाकर अपने जीवन की शरण देखता है। तव ऐसे प्रेम को पाकर भगवान भी आधे पागल हो जाते हैं। तव वे क्षीरसागर और वैकुण्ठ को छोड़कर अपने सव लोगों के वीच आ जाते हैं। किसी का माखन चुराने, किसी की मटकी फोड़ने के लिए। यशोदा सोचती होगी कि तुम माखन की मटकी फोड़ते हो पर हम जानते हैं कि तुम माखन की नहीं, हमारे पापों की मटकियाँ फोडते हो।

हे प्रभु ! एक बार हम पर भी कृपा करो और हमारी मटकी भी फोडो। तुम्हे तो लगेगा कि तुमने हमे माखन से भिगोया है पर यह तो हम जानते है कि तुमने हमारा पाप निकाल लिया है और माखन लुटा दिया है। इसीलिए तो कहते है—

शेष गणेश, दिनेश, महेश, सुरेश हु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद अभेद, सुवेद बतावै।
नारद से शुक व्यास रटैं, पचे हारै तौ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीर की छोहरियॉ, छछिया भरी छाछ पै नाच नचावै।।

जिस भगवान का यश गणेश, दिनेश और महेश गाते है, जिनकी महिमा वेद, पुराण, कुरान और आगम भी बखानते हैं। तुम्हें लुभाना वे नही जानते, तुम्हे लुभाना तो हम जानती है। 'ताहि अहीर की छोहरियॉ छछिया भरी छाछ पै नाच नचावै।' गोपिकाएँ कहती हैं कि 'कृष्ण, तुझे ऐसे ही माखन नहीं मिलेगा। पहले तू जरा बाँसुरी बजा, नटवर नागर ! जरा अपना नृत्य दिखा, तब तुझे छाछ मिलेगी। तब उस प्रेमपूरित छाछ के लिए भगवान भी नाचते है। अभी तो तुम नाचते हो तबलो की थाप पर, लेकिन जब तुम्हारा प्रेम पूर्णता को छू लेगा तो भगवान स्वय आकर तुम्हारे तबले की थाप पर नाचेगे। तुम उन्हें मूसल से पीटोगे तो भी नाचेगे और तुम उन्हे ऊखल से बॉधोगे तो वे भी बड़े प्रेम से नाचेगे।

इसीलिए तो कहा है—'सबसौं ऊँची प्रेम सगाई'। यह तो सबसे ऊँचे प्रेम की बात है। जो यहॉ आकर लुटाता है, समर्पित होता है, उसी के लिए तो यह प्रेम का मार्ग है। तुम जितनी दिव्यता के साथ, प्रेम के साथ जी सको, उतने प्रेम के साथ जियो। किसी को देखो तो प्रेम से, मिलो तो प्रेम से, बात करो तो प्रेम से। जीवन को हम प्रेममय बना ले, प्रेम से भर ले। जीवन का पहला धर्म हो प्रेम और अन्तिम धर्म भी प्रेम। प्रेम ही पथ बने और प्रेम ही प्रकाश। प्रेम जीवन से इतना एकाकार हो जाए कि प्रेम ही मंजिल बन जाए।

परमात्मा आखिर प्रेम रूप है। प्रेम यानी परमात्मा, और परमात्मा यानी प्रेम। प्रेम ही प्रभु है, प्रभु स्वयं प्रेम रूप है। परमात्मा से जुड़े बगैर प्रेम शुद्ध होता ही नहीं, पूर्ण होता नहीं। प्रेम ज्यों-ज्यों ऊर्ध्वमुखी होता जाएगा, त्यों-त्यों वह दीप की लौ की तरह ज्योतिर्मय होता जाएगा। प्रेम हो ऐसा जिसमें हम प्रतिफल की इच्छा न रखें। प्रेम आध्यात्मिक हो, हार्दिक हो। भावना का योग हो।

मेरा मार्ग प्रेम का है। मेरे लिए प्रेम और ध्यान एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं। आँखों के भीतर झाँको तो ध्यान हो, और ध्यान की दृष्टि बाहर खुले तो प्रेम हो। अनन्त से प्रेम हो, अनन्त तक प्रेम हो, अनन्त के लिए प्रेम हो। हम उसी अनन्त के अंग हो जाएँ, अनन्त के फूल हो जाएँ। हमारे प्रेम की सुवास अनन्त में फैल जाए। शायद इससे सरल कोई मार्ग नहीं है, जो सुकून देता है, तृप्ति देता है, रस देता है। जीवन में चाहे जैसी अपूर्णता हो, फिर भी पूर्णता का अहसास, पूर्णता का प्रकाश देता है। आओ हम ध्यान धरें और ध्यान में अपने रग-रग में प्रेम-भावना, प्रेम की धारा, प्रेम की प्राण-ऊर्जा फैल जाने दें। प्रेम की शुरुआत अपने से करें और अपने में ही इतने विराट हो जाएँ कि प्रेम अनन्त हो जाए, हम अनन्त हो जाएँ। एक दिन हम और प्रेम दोनों एक-दूसरे में विलीन हो जाएँ, केवल अनन्त ही शेष रह जाए।

❑

एक पुष्कर और है

मानवता की सेवा मे तरुवर और सरोवर दोनो समान रूप से सहायक है। जो काम सरोवर का होता है, वही काम तरुवर का भी है। सरोवर का कार्य होता है, प्यासो को पानी पिलाना और थके-हारो की थकान मिटाना। तरुवर का भी कुछ ऐसा ही कार्य होता है—पथिको को शीतल छाँह प्रदान करना और फल के रूप मे लोगो की क्षुधा को शान्त करना। चाहे सरोवर हो या तरुवर, जब तक उनके पास देने के लिए कुछ भी बचा है, तो वे उसे किसी औढ़रदानी की तरह लुटाते रहते है।

अब तक हमने कई-कई सरोवरो का जल-पान किया होगा, उनमें स्नान किया होगा और अपने मन को सुकून पहुँचाया होगा, पर जब हम सरोवरो मे किसी श्रेष्ठ पुष्कर सरोवर का नाम लेते है तो नाम लेने मात्र से ही अन्त.करण को एक पवित्रता का अहसास हो जाता है। सरोवर तो कई हैं, पर पुष्कर की तुलना मे तो पुष्कर को ही रखा जा सकता है। कल्पना करो कि उस सरोवर में स्नान करने मे कितना पुण्य मिलता होगा कि जिसमे स्नान तो करो तुम और उसका पुण्य मिल जाए तुम्हारे पितरो को। जिसमे स्नान करने मात्र से तुम्हारे पितरों की आत्मा को शान्ति और सद्गति मिल जाए, ऐसा महिमामण्डित और पुण्यशाली यह पुष्कर सरोवर है। इसी तरह तरुवर भी कई होंगे, लेकिन आम-सा

नहीं। जब हम किसी आम के वृक्ष की छाया मे बैठते हैं और उसके फल का रसास्वादन करते हैं तो उसकी मिठास, माधुर्य और स्वाद कुछ अनोखा ही होता है। मैं एक ऐसे आम्रवृक्ष की, एक ऐसे कल्पवृक्ष और ऐसे पुष्कर की बात करूँगा, एक ऐसे पुष्कर की चर्चा कँरूगा, कि जिस पर कि स्वयं तुम्हारा अपना अधिकार है। एक ऐसे पुष्कर तीर्थ के बारे में चर्चा होगी कि जहाँ स्नान किए बगैर, जिसकी शरण लिये बिना हमारी आत्मा को शान्ति और सद्गति नहीं मिल सकती।

एक पुष्कर सरोवर वह है जहाँ स्नान करने से हमारे पितरों को शान्ति मिलती है और एक पुष्कर वह है जहाँ स्नान करने से स्वय हमारी आत्मा को शान्ति और सद्गति मिलती है। उस पुष्कर-सरोवर मे अवश्य स्नान करें कि जिसके फलस्वरूप हमारे पितरो की आत्मा को शान्ति और सद्गति मिले, पर जब तक स्वयं की आत्मा को शांति न मिलेगी तो पितरों को मिली शान्ति का हमारे लिए क्या औचित्य होगा ? सारे लोग तिरें, यह अच्छी बात है, पर हम स्वयं डूबे रहें, यह कहाँ का न्याय है? मरने से पहले हम इतना इन्तजाम करके जाएँ कि मरने के बाद हमारे परिवारजनों और परिचितों को किसी धर्म-स्थल पर एकत्र होकर हमारी आत्मा की शान्ति और सद्गति के लिए प्रार्थना न करनी पड़े।

तुम अपने जीवन में अपनी गति और सद्गति का स्वयं इन्तजाम करना। दूसरों के द्वारा हमारी आत्मशान्ति के लिए की गई प्रार्थनाएँ न जाने कितनी सफल होंगी, लेकिन यदि स्वयं की शान्ति और सद्गति के लिए हमारे स्वयं का इंतजाम हो चुका है, तो दूसरों की प्रार्थनाओ की जरूरत नहीं रहेगी।

एक पुष्कर और है—जिसमें स्नान किए बगैर, जिसकी शरण लिए बगैर हमारी आत्मा को शान्ति और सद्गति नहीं मिल सकती और न ही हमारे जन्म-जन्मांतर के पाप-पातक धुल सकते हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में पुष्कर में डुबकी लगा आया है, उसको भी अन्ततः उस पुष्कर सरोवर का शरणागत होना ही पड़ेगा जो कि स्वयं हमारा अपना है।

मनुष्य का अन्तर्हृदय ही उसके जीवन का पुष्कर-सरोवर है, जीवन का कल्पवृक्ष है, जीवन की गंगा और जीवन का स्वर्ग है। अन्तर्हृदय से बढ़कर कोई तीर्थ और धाम नहीं होता। दुनिया के सारे तीर्थ और धाम इस अन्तर्हृदय के ही प्रतिविम्ब भर होते हैं। जो व्यक्ति अपने अन्तर्हृदय की शरण में आ गया, उसने दुनिया भर के समस्त तीर्थों की यात्रा का पुण्यार्जन कर लिया और जिसने समस्त

तीथो की यात्रा की, पर अपने अन्तर्हृदय की यात्रा नही की तो उसकी सारी तीर्थ-यात्राएँ अभी भी अधूरी हैं।

कहीं ऐसा न हो जाए कि तुम तीर्थयात्रा करने के बाद जब घर पर लौटो, तो तुम वैसे ही रहो जैसे कि तुम पहले थे।

जब भी कोई गजराज सरोवर से स्नान करके बाहर निकलता है तो उसका पहला कार्य होता है; सूँड से कीचड और मिट्टी उछाल कर अपने ही शरीर पर डालना। मैं पूछना चाहूँगा कि कहीं तुम भी तो कुछ ऐसा ही नही कर रहे हो ? तुम मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और किसी धर्म-स्थल मे जाने के बाद जब अपनी दुकान पहुँचते हो, तो क्या वही तीन की तेरह और मेल-मिलावट जारी नहीं रहती ? कहीं ऐसा तो नहीं कि–

मक्का गया, हज किया, बन कर आया हाजी।
आजमगढ़ मे जब से लौटा, तो पाजी का पाजी।।

हमारी स्थिति कही उस बिल्ली की तरह तो नही है जो कि चूहे को देखते ही भूल जाती है कि वह हाजी है और कोई तीर्थयात्रा करके लौटी है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारी तीर्थ-यात्राएँ, हमारी ससार-यात्रा को बढ़ा दे। वे तीर्थयात्राएँ घाणी के बैल की तरह वर्तुल गति के समान न हो जाएँ।

हर व्यक्ति को आना होगा उस महासरोवर मे, अवगाहित होना ही होगा उसमें जो कि स्वयं हमारा सरोवर है।

हमारा हृदय ही वह स्थान है जहाँ पर मनुष्य की अपनी आत्मा और परमात्मा रहते हैं। अन्तर्हृदय ही वह केन्द्रबिन्दु है जहाँ जीवन की सारी प्राणधाराएँ बहती हैं। कोई अगर पूछे कि धरती पर भगवत्ता का केन्द्र कहाँ है, तो मैं कहूँगा कि मनुष्य का अन्तर्हृदय ही भगवत्ता का महान् केन्द्र है। बाइबिल मे इसे ही 'मिस्टिक् रोज़' कहा है, जीवन का एक छिपा हुआ गुलाब का पुष्प। शायद इस धर्म के अनुयायी भी न जान पाएँ होगे कि यह 'मिस्टिक् रोज़' क्या है? लेकिन जिसने अपने जीवन को, अपने अन्तरहृदय को जिया है, वह अच्छी तरह जानता है कि 'मिस्टिक् रोज़' और कुछ नहीं, बल्कि मनुष्य के खिले हुए हृदय का ही नाम है।

योग में इसे अनाहत कहा गया है। योग की भाषा मे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र नामक जो षड्चक्र है उनमें जिसे

'अनाहत-चक्र' कहते हैं, वह व्यक्ति का अपना हृदय है। एक ऐसा चक्र कि जहाँ बगैर आहत के भी स्वर फूट पड़ते हैं। दो हाथ से बजने वाली ताली को तो पूरी दुनिया ने सुना है, लेकिन एक हाथ से बजने वाली ताली का अनुभव तो मात्र अन्तरहृदय मे ही होता है।

कहते हैं कि योग में साधना की पराकाष्ठा पर साधक को एक ब्रह्मनाद, एक ओंकारनाद का श्रवण होता है। क्या आप जानते हैं कि मनुष्य की काया मे वह कौन-सा स्थान है जहाँ से उस ब्रह्मनाद का विस्फोट होता है? वह स्थान है मनुष्य का अपना अंतर्हृदय। मनुष्य के साथ यह बहुत बड़ी विडम्बना रही है कि वह किसी मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे से तो जुड़ पाया; किसी शास्त्र और धर्म-ग्रंथ से तो जुड़ पाया; किसी संत और सत्संग से तो जुड़ पाया, लेकिन अगर नहीं जुड पाया तो मात्र अपने अन्तर्हृदय से नहीं जुड़ पाया। कोई व्यक्ति आसक्ति से घिरा होता है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि व्यक्ति मन से ही जुड़ा रहा। उसे हृदय से जोड़ने वाले तंतु सक्रिय नहीं हुए।

कोई अगर कहे कि मैंने अपने राग-द्वेष को, अपनी मूर्च्छा और आसक्ति-भाव को मिटाने की लाख कोशिश कर ली, लेकिन अपनी हर कोशिश में नाकामयाब रहा तो क्या आप उसको रास्ता बता पाएँगे ? हाँ, मेरे पास है उसका रास्ता। रास्ता यह है कि जो व्यक्ति अपने रागद्वेष से, अपने वैर-वैमनस्य से उपरत होना चाहता है, वह अपने अन्तरहृदय के पुष्कर सरोवर से जुड़े। अगर कोई भी व्यक्ति अपने अन्तरहृदय मे उतर कर ईश्वर की प्रार्थना करने लग जाए तो उस प्रार्थना का स्वरूप ही कुछ अनेरा और निराला होगा। मन से जो प्रार्थना की जाती है वह कोई स्तोत्र बन जाती है जबकि हृदय से उमड़ने वाली प्रार्थना आँखों से बहने वाली अश्रुधारा बन जाती है। मन से प्रार्थना के जो शव्द फूटते हैं, वे शायद किसी कैसेट में रिकार्ड हो जाएँ, पर हृदय से उठने वाली प्रार्थना तो किसी मीराँ के पायजेब के घुंघरू बन जाते हैं।

हृदय के पास रूपान्तरण की अद्भुत क्षमता है। अगर तुम अहोभाव से सुवह उठकर दुनिया के दुःखों को हृदय में ग्रहण कर लो, दुनिया भर के दुःखों के विष को पीना शुरू कर दो और अपने हृदय के सुखों को, शुभकामनाओं को दुनिया के प्रति विस्तृत कर दो, तो तुम्हारे हृदय की समस्त शुभकामनाओं से पूरी दुनिया भर जाएगी और तुम्हारी दुनिया वदली-वदली नजर आएगी; दुःख से रहित दुनिया, सुख से भरी पूरी दुनिया।

ससार मे अगर दुःखो को बदलने की क्षमता किसी मे है, तो वह मात्र व्यक्ति के हृदय मे है। हृदय के पास रूपान्तरण का वह कीमिया है कि जब तुम दुःखो को पीना शुरू करोगे, तो वे दु:ख, सुख मे तब्दील हो जाएँगे।

यह एक अद्भुत चमत्कारिक बात है। यह दुनिया की एक महान सेवा कहलाएगी। अपनी शुभ-कामनाएँ, शुभकामनाओं का आभामंडल फैल जाने दो। तुम्हारी हार्दिकता सचमुच दुनिया को बदलेगी, पूरे वातावरण को प्रभावित करेगी।

ध्यान रखो, जिसे तुम गन्दगी कहते हो, उसमे सुगन्ध मे परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसे तुम माटी कहते हो, उसमे फूल उत्पन्न करने की शक्ति है। फिर कल्पना करो कि जीवन मे भी कुछ ऐसे गमले होगे, जहाँ फूल लगाए जा सकते हैं। जीवन मे भी तो कुछ ऐसे सरोवर होगे, जहाँ तुम डुबकी लगाकर अपने पापो को, अपने राग-द्वेष और आसक्ति को धो सकते हो। जिसे तुम गन्दगी कहते हो, उसमे खाद बनकर गूलाब के फूल की सुवास मे बदलने की क्षमता होती है और जिसे तुम माटी कहते हो, वह माटी भी जब किसी बीज को छू जाती है तो किसी कमल के फूल मे परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार व्यक्ति जब अन्तरहृदय मे उतरकर अपने हृदय से जुड़ जाता है तो हृदयवान और आत्मवान बन जाता है।

तुमने अब तक केवल बुद्धि और ज्ञान का ही सग्रहण किया है। सारी दुनिया के मनोविज्ञान और शिक्षा ने मनुष्य को प्रबुद्ध बनाने का ही काम किया है। मानवता को प्रबुद्ध करना अनिवार्य है, पर जीवन केवल बुद्धि के आधार पर नहीं चल सकता। जीवन को उसके पूरे वैभव और आनन्द के साथ जीने के लिए व्यक्ति का हृदयवान होना जरूरी है। तुम स्वार्थी हो, क्योकि तुम मात्र प्रबुद्ध हो; तुम कामुक और क्रोधित हो, क्योकि तुमने हृदय के प्रेम की भाषा अब तक नहीं समझी है, तुम्हारे हृदय मे करुणा का निर्झर अब तक नहीं बहा है। जब तुम सडक पर किसी घायल, खून से लथपथ और लहूलुहान व्यक्ति को देखते हो तब भी तुम्हारी प्रबुद्धता और बुद्धि ही काम करती है। तुम सोचते हो कि इस घायल को अस्पताल पहुँचाकर कौन पुलिस की झंझट मे फॅसे। ऐसा तुम इसलिए सोचते हो, क्योकि तुम मात्र बुद्धिवान हो, हृदयवान नहीं। यदि तुम हृदयवान होते, तो यह सोचते कि किसी घायल के प्राण बचाने मे पुलिस के चार चक्कर तो क्या, चार डण्डे भी मुझे स्वीकार हैं। अगर तुम किसी घायल को अस्पताल पहुॅचाते हो तो तुम अपनी तरफ से एक अस्पताल बनाने का पुण्यार्जन कर लेते हो।

यह देश राजा शिवि जैसे हृदयवान लोगो का देश है जो किसी कबूतर की जान बचाने के लिए तराजू के एक पलड़े पर अपनी जाँघ के मॉस को काट-काट कर रखते जाते थे। इसके बावजूद भी यदि बाज़ यह पाता हो कि कबूतर के पलड़े का वजन ज्यादा है तो राजा शिवि, स्वयं ही तराजू के पलड़े पर बैठ जाते है।

करुणा, शान्ति, प्रेम, समता और सहनशीलता उनके लिए है, जिनके पास हृदय है। अखण्ड आनन्द और माधुर्य का राज्य उनके पास है जो हृदयवान है। धर्म का समारम्भ किताब से नहीं, किसी मन्दिर या स्थानक से नहीं, किसी आसन या मुँहपत्ती से नहीं, वरन् धर्म की शुरूआत व्यक्ति के अन्तर-हृदय से होती है। व्यक्ति के हृदय मे ही अध्यात्म का पहला बीजारोपण होता है। जो इन्सान, इन्सान न बन सका, वह आध्यात्मिक और धार्मिक भला क्या बनेगा !

हर पीड़ा वेश्या बन जाती,
हर आँसू आवारा होता।
प्यार न होता धरती पर तो
सारा जग बंजारा होता।

हृदयवान होकर तो देखो, जीवन मे एक अलग ही बाँसुरी के सुर फूट पड़ेगे। वे जीवन को इस तरह संगीत से बद्ध कर देगे कि तुम्हे बाहर के किसी संगीत की आवश्यकता नहीं रहेगी। महावीर कहते है कि श्रावक के जीवन का प्रथम आधार सम्यग् दृष्टि है। सम्यग् दृष्टि का अर्थ क्या है? तुम शायद कहोगे कि किसी गुरु के पास जाकर अपने कान मे मंत्र फुँकवाने का नाम सम्यग् दर्शन है। नहीं, हृदय की ऑख के खुल जाने का नाम ही सम्यग् दर्शन है, उस आँख से जीवन और जगत् को देखना ही सम्यग् दर्शन है।

तभी तुम जीवन के सुख-दुःख की पहचान कर पाओगे। जो व्यक्ति अमीर है, वह समझ नहीं पाएगा कि गरीव के दुःख-दर्द क्या होते है। जिस व्यक्ति ने गरीबी की पीड़ा भोगी है, वही जान सकता है उस पीडा, दुःख और व्यथा को। तुम अगर किसी को पीड़ित देखो, तो जरा कुछ पलों के लिए उस पीड़ित की जगह तुम स्वयं को खड़ा करके देखना। तुम पाओगे वह पीड़ा तुम्हें पीडित कर रही है और तव तुम उस पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो ही जाओगे। तुम स्वयं को समानुभूति की देहरी पर खड़ा पाओगे और तव तुमसे जो होगा, वही है तुम्हारी हार्दिकता, मानवता, महानता।

मुझे याद है : एक पोस्टमैन था। वह घर-घर डाक बॉटता फिरता था। एक दिन उसने किसी अनजान दरवाजे पर दस्तक दी। कई बार दरवाजा खटखटाया तो एक आवाज आई—'डाकिया साहब, बस एक मिनिट और रुकिये, मै आ ही गई।' इसके साथ ही दरवाजा खुला और सामने एक लड़की खडी थी। उस लडकी को देखकर पोस्टमैन चौंक पड़ा। अब तक तो डाकिये के मन मे खीझ और आक्रोश के भाव थे, लेकिन जैसे ही उसने अपने सामने एक अपग बच्ची को देखा तो उसका क्रोध काफूर हो गया। पोस्टमैन ने जब देखा कि घुटने के बल रगड़ते-रगड़ते, सीढियॉ उतरती हुई बच्ची आई है तो वह द्रवित हो गया। उसने मन ही मन अपने आप से माफी मांगी।

बच्ची ने डाकिये को देखा और कहा—'लगता है आप नए आए है।' डाकिये ने कहा—'हॉ, पहले वाले डाकिये की बदली हो गई है।' बच्ची ने डाक ली और कहा—'डाकिया बाबू, आप मेरी इन्तजारी की तकलीफ न किया करे। जब भी मेरे नाम की डाक आया करे तो उसे दरवाजे के बीच की जगह से भीतर डाल दिया करें।' डाकिये ने बच्ची को देखा और जवाब दिया—'यदि मुझे तेरे लिए पॉच मिनिट तो क्या पन्द्रह मिनिट का भी इन्तजार करना पडे तो मै कर लिया करूँगा।' अचानक बच्ची की निगाह उस डाकिये के पॉवो पर गई। वह डाकिया उस चिलचिलाती धूप मे नंगे पॉव रेत पर खड़ा था।

अब जब कभी डाक आती तो डाकिया बड़े प्यार से उस बच्ची को आवाज लगाता और वह बच्ची जब तक नहीं आती, वह नगे पैर ही उस कड़ी धूप मे बच्ची का इन्तजार करता। उसे उस बच्ची के खातिर अपने पॉवो को धूप मे सिकवाना भी मजूर था। जब भी दरवाजा खुलता, डाकिये की नजर उस बच्ची के पॉव पर पड़ती और बच्ची की निगाहे पोस्टमेन के नगे पॉवो पर पड़ जाती।

इसी बीच दीपावली का पर्व आया तो बच्ची के मन मे यह इच्छा हुई कि वह डाकिया मेरे कारण नगे पॉवो ही धूप मे इन्तजार करता है। क्यो न इसे कुछ ऐसा उपहार दिया जाए जिससे इसके नगे पॉवो को राहत मिले। वह अन्दर कमरे मे गई और अपनी मिट्टी का गुल्लक फोड़ डाला। पैसे गिने तो, उसमे कुल पचपन रुपये निकले।

उस बच्ची ने अपने घर आने वाली अपनी एक बड़ी सहेली से कहा—'दीदी, यह जो डाकिया आता है, उसको मै इस पर्व के अवसर पर उसके नगे

पैरों के लिए जूतों का उपहार देना चाहती हूँ। क्या तुम मेरी मदद करोगी? ' सहेली ने कहा—'हाँ, मैं तुम्हें बाजार से जूते जरूर ला दूँगी, पर इसके लिए तुम्हे जूतों का साइज देना होगा।' लड़की ने सोचा कि यह बात तो सही है, पर वह जूतो का नाप कैसे मालूम करे तभी उसके दिमाग में एक विचार कौंधा। उसके होठों पर मुस्कान तैर गई। अगले दिन डाकिया, डाक लेकर आया। बच्ची डाकिये के चले जाने के बाद घसीटते-घसीटते सीढ़ियो से नीचे उतर कर उस रेत तक पहुँची, जहॉ पोस्टमैन के नंगे पाँवों के निशान पड़ चुके थे। उसने रेत पर पड़े पॉवो के निशान को ध्यान से देखा, स्केल से मापा और कागज पर नोट कर लिया। उसी दिन उसने अपनी सहेली को माप देकर जूते मंगवा लिए।

पर्व का दिन आया। डाकिया हर घर जाकर बख्शीश माँग रहा था। बच्ची का घर आया। उसने मन में सोचा कि वह बच्ची क्या बख्शीश दे पाएगी ! पर उस बच्ची को देखने मात्र से ही उसके हृदय को एक तसल्ली और सुकून मिल जाता था, इसलिए उसने उस बच्ची का दरवाजा भी खटखटाया। दरवाजा खुला और बच्ची ने डाकिये से कहा—'पोस्टमैन साहब, मैंने आपके लिए एक उपहार रखा है, आप इन्कार तो नहीं करेगे?' डाकिये ने कहा—'बिटिया, तेरे हाथ से छुई गई हर चीज मेरे लिए सोना, चांदी और हीरे-जवाहरात हैं। वैसे मै यहॉ डाक देने ही नहीं, तुझे देखने आता हूॅ। तू, मुझे जो भी उपहार देगी, उस अमर उपहार को मै सहर्ष स्वीकार करूँगा।'

बच्ची अन्दर गई और एक डिब्बा उठाकर ले आई। बच्ची ने कहा— 'कृपया आप इसे स्वीकार करे। मेरे इस उपहार को ठुकराएँ नहीं।' पोस्टमैन ने डिब्बा ले लिया और वह घर पहुँचा।

पोस्टमैन ने घर पहुँचकर पहले उस डिब्बे को खोला और उसमे जूतों को देखकर वह दंग रह गया। उसकी पूरी रात उलझन मे बीती। वह कभी अपने नंगे पॉवो को तो कभी जूतो को देखता रहा।

अगली सुबह वह पोस्ट ऑफिस गया और पोस्टमास्टर से बोला—'कृपया मेरी बदली कर दीजिए। मैं आज के बाद उस गली में दुबारा कभी न जा पाऊँगा।' पोस्टमास्टर ने कारण पूछा, तो डाकिये ने कहा कि 'उस अपंग बच्ची ने तो मेरे नंगे पॉवों को जूते दे दिए किन्तु मैं उस विकलांग बच्ची को पॉव कैसे दे पाऊँगा?'

आज से मै उस विकलांग बच्ची को देखने का हौसला खो बैठा हूँ, कृपा कर आज की तारीख से मेरी बदली कर दे, जिससे मुझे उस गली मे नही जाना पडे।'

बात हृदय की, बात हृदयवालो के लिए है। मैं स्वयं हृदय से जीवन जीता हूँ। मेरे लिए हर एक दिन ईश्वर का दिया हुआ एक अमूल्य उपहार होता है। मै बडे प्यार से, बड़े पुलक भाव से जीवन जीता हूँ। दिन का प्रत्येक अश हृदयपूर्ण होकर, प्रेमपूर्ण होकर जीता हूँ। अगर कोई मुझे अपनी तरफ से सम्पूर्ण विश्व को कोई सन्देश देने को कहे तो मै यही कहूँगा कि 'जिओ, मगर हृदयवान होकर जिओ। यदि तुम हृदय से जीते हो तो जीने का आनन्द ही अनेरा होगा।'

बात उन दिनो की है जब हम प्रवास के दौरान कलकत्ता मे थे। तब हमारा मिलना मदर टेरेसा से होता था। वहॉ देखा करता था कि किस प्रकार लोग निस्सहाय लोगो के सहयोगी बनने का अपना कर्त्तव्य पूरा करते थे। एक बार हम मदर टेरेसा के साथ ही बच्चों के किसी अस्पताल मे खड़े थे। वहॉ एक बच्चे को जब पागलपन का दौरा पड़ता तो वह अपना सिर जमीन पर पटकने लगता। मै, वहॉ की निःस्वार्थ सेवा, प्रेम, दया और सहानुभूति देखकर दग रह गया, क्योकि उस पागल बच्चे के पास ही एक नर्स बैठी थी, जिसने अपने दोनों हाथ जमीन पर बिछा रखे थे, ताकि बच्चा जब भी अपना सिर जमीन पर पटके तो उसका सिर उसके हाथो पर लगे और जमीन से न टकराए। नर्स के हाथों की हड्डियॉ भले ही टूट जायॅ पर बच्चे के मस्तिष्क को कोई चोट नही पहुॅचनी चाहिए। कितनी ऊॅची सेवा भावना थी वह!

लोग मदर टेरेसा के ईसाई होने पर प्रश्न खड़े करते हैं। हॉ, वह ईसाई थी, पर मै उसका नाम इसलिए लेता हूँ, क्योकि वह इस धरती पर ऐसी दिव्य मूर्ति थी, जिसका नाम लेने भर से जिह्वा धन्य होती है। वहीं से हमने अपने जीवन के लिए यह प्रेरणा ली थी कि इस शरीर के मिट्टी मे मिलने से पहले इस खून की एक बूंद भी यदि मानवता की सेवा के लिए काम आ सकी तो वह हमारे जीवन का परम सौभाग्य होगा।

अभी कल ही किसी घर मे जाना हुआ। वहॉ पर एक महिला के दोनों गुर्दे खराब हो गए थे। घर के सभी जन उपस्थित थे। वे कह रहे थे कि वे किसी डॉनर का इन्तजार कर रहे है जो कि अपनी एक किडनी का दान कर दे। मैंने कहा, 'यह आपकी मॉ है। इसने तो आपको पूरा शरीर दिया है। क्या आप अपनी मॉ

को अपनी एक किडनी नहीं दे सकते ? जरा सोचो, जो अपनी किडनी देगा, वह भी तो किसी माँ का बेटा या बेटी होगी।' मैंने कहा कि 'फिर भी यदि तुममे से कोई भी अपनी किडनी देने को तैयार नहीं हो तो ईश्वर की दया से मुझे दो किडनी मिली हुई है, तुम्हें जरूरत हो तो मेरी एक किडनी ले जाना।'

अगर हृदय से तुम जीते हो तो जीने का स्वरूप ही अलग होगा, जीने का नजरिया ही बदल जाएगा। तब तुम केवल अपने लिए नहीं, वरन् सबके लिए जी जाओगे। तब यह नहीं होगा कि तुम अपने बेटे को तो शुद्ध दूध पिलाओगे और पड़ौसी के बच्चे को पानी मिला हुआ दूध पिलाओगे। तुम जरा एकान्त मे बैठकर सोचो कि जिस दवा मे तुम मिलावट करते हो, वह दवा अगर तुम्हारे बच्चे को पिलाई जाए तो क्या परिणाम होगे? तुम अपने बेटे को ही अपना क्यो समझते हो? सारी सृष्टि के बालकों में किसी बालकृष्ण या जीसस का रूप क्यों नहीं देखते?

तुम रोज सुबह किसी मन्दिर में जाकर किसी बालकृष्ण को माखन और मिश्री का भोग लगा आते हो और घर आकर अपने ही बच्चे को पीटने लगते हो। वह कृष्ण तो माखन और मिश्री का चोर है, फिर भी तुम उसकी पूजा करते हो और अपने बच्चे की एक छोटी-सी गलती माफ नहीं कर सकते। अरे ! कृष्ण केवल मन्दिर मे ही नहीं, तुम्हारी कोख से जन्म लेने वाले बच्चे मे भी उस कृष्ण का ही अंश है। प्रकृति का एक नियम है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है, तुम उसको जो भी दोगे वह तुम्हे लौटाएगी। यदि आज तुम दूध मे पानी मिलाते हो तो कल वह पानी अवश्य ही तुम्हारे पास जहर बनकर लौटेगा।

इसलिए, मेरे प्रिय वत्स, यदि तुम जीवन का आनन्द उठाना चाहते हो तो हृदयवान होकर जिओ। हृदय की आँखों से जगत् को देखो। मन से नहीं हृदय से सोचो तो जीवन का पुष्प महक उठेगा।

आपने कभी ध्यान दिया है कि जापान में भगवान बुद्ध की जितनी भी प्रतिमाएँ हैं, उन सभी के पेट बहुत बड़े हैं। हमारे यहाँ तो यदि किसी का पेट बड़ा हो तो उसकी 'गणेशजी का पेट' कहकर मजाक उड़ा दी जाएगी। पर वहाँ इसके पीछे मान्यता यह है कि सोचो, तो पेट से सोचो। मैंने कहा, हृदय से सोचो और उनकी बात तो इससे भी चार कदम आगे है। अर्थात् किसी भी बात पर पूर्ण गहराई से चिन्तन किया जाए। यही कारण है कि जापानी लोगों के दिमाग को

चुनौती देने वाले, विश्व मे विरले ही मिलते है। पूरा विश्व जापान की नकल करता है, जबकि जापान अपनी अकल लगाता है, क्योकि वह ठेठ पेट से अर्थात् गहराई से सोचता है।

इस बात का महत्त्व नही कि तुमने कितने वर्ष का जीवन जिया, वरन् महत्त्व इस बात का है कि आपने जीवन कितनी गहराई से जिया। हृदय से देखो, हृदय से सोचो और हृदय से मिलो। तुम अपनी पत्नी से मिलते हो, पर क्या तुम कभी अपने हृदय से मिले? यदि तुम हृदयपूर्वक अपनी पत्नी से मिलोगे या अपने बच्चे के माथे को चूमोगे तो तुम्हे जिस आनन्द, सुकून और सुख की अनुभूति होगी, वह किसी स्वर्ग के इन्द्र को होने वाली सुखानुभूति से कहीं कम न होगी।

अगर संवत्सरी को किसी से क्षमा भी माँगनी पड़े तो हृदय से क्षमा मॉगकर देखना। तुम्हे स्वय ही अनुभव होगा कि तुम निष्कलुष, निष्पाप और पवित्र हो गए। हृदय को उन्नत बनाने के लिए यह जरूरी है कि तुम प्रतिदिन पन्द्रह मिनिट हृदय पर ध्यान करो। तुम मन पर ध्यान करते हो, जो तुम्हे चचल नजर आता है। जिस प्रकार, कोई सरिता किसी सागर मे समा जाती है, कोई मीरा अपने गिरधर मे लीन हो जाती है, उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति अपने अन्तरहृदय के पुष्कर मे निमज्जित हो जाता है, डूब जाता है तो उसे अपना मन चचल नजर नहीं आता। उसका मन तिरोहित हो जाता है और मन भी निमज्जित हो जाता है, हृदय में निमज्जित।

यदि कोई व्यक्ति अनिद्रा, क्रोध या अति अहकार से ग्रस्त है तो उससे मैं यह अनुरोध करूँगा कि वह प्रतिदिन कम से कम पन्द्रह मिनिट के लिए अपने अन्तरहृदय मे ध्यानमग्न हो जाए। उसे निश्चित रूप से समाधान मिलेगा, क्योकि हृदय मे कभी क्रोध नहीं होता, क्रोध तो मन का धर्म है। हृदय का धर्म प्रेम मे है जबकि वासना-विकार मन के धर्म है। शान्ति हृदय का धर्म है, अशान्ति और तनाव मन का धर्म है। दूसरो के प्रति दया और सहानुभूति रखना हृदय का धर्म है और उनके प्रति छल-प्रपंच करना मन का धर्म है। हर समय आनन्द और प्रेम से आपूरित रहना हृदय का धर्म है और मात्र अपने स्वार्थ मे डूबे रहना मन का धर्म है।

मन के लिए मनोविज्ञान समाधान देता है, लेकिन जब मनोविज्ञान के समाधान भी अपूर्ण रह जाएँगे, तब व्यक्ति को अपने समाधान पाने के लिए हृदय की शरण मे आना ही होगा।

हृदय से जीने के लिए तुम अपने आपको प्रेम से पूर्ण कर लो। तुम केवल अपनी पत्नी, पति, बच्चों, माता-पिता या परिवार से ही प्रेम न करो, वरन् अपने पड़ौसी, कुत्ते, सूअर और सृष्टि की हर सुन्दर-असुन्दर कृति से उतना ही प्रेम करो। खाना खाने से पहले, आधी-आधी रोटी अपने दरवाजे पर खडे किसी भिखारी, कुत्ते या सूअर को भी देना न भूलो। ऐसा न हो कि खाना खाने के बाद बचा हुआ जूठा भोजन तुम उन्हे समर्पित करो। यदि तुम्हारी इस बात मे आस्था है कि तुम जिस आत्मा को इस देह मे धारण किए हुए हो, वही आत्मा सृष्टि के प्रत्येक जीव मे समायी हुई है, तो तुम्हें मात्र अपनी स्वार्थ-पूर्ति मे नहीं लगे रहना है वरन् दूसरो की आवश्यकताएँ पहले पूरी करना है। याद रखना कि तुम्हारा खाया हुआ भले ही मल-मूत्र बन जाए, किन्तु दूसरों को खिलाया हुआ अन्न व्यर्थ नहीं जाता। वह तो परमात्मा का प्रसाद बन जाता है।

तुम्हारी पुण्यवानी इसमे है कि तुम्हे किसी के आगे हाथ पसारना नहीं पडे, बल्कि तुम्हारे हाथ सदैव लुटाते रहें, दूसरो की मदद करते रहें। ख्याल रहे, तुम्हारे द्वार पर आया हुआ कोई याचक खाली हाथ न जाए, चाहे तुम सवा रुपया दो या सवा लाख रुपया, तुम्हारे मुँह से कभी 'ना' नहीं निकलनी चाहिए। लोगो की एक आदत होती है कि जब देना होता है तो वे कहते हैं, 'बेटे से पूछेगे या भाई से पूछेंगे, लेकिन जब लेना होता है तो किसी से भी नहीं पूछना होता है। ईश्वर ने तुम्हें सत्पात्र बनाया है अतः दूसरो को दान देकर अपनी सत्पात्रता को बनाए रखो। याद रखो, नाव उतना ही बोझ सह सकती है जितनी उसकी क्षमता है। अगर उसमे क्षमता से अधिक माल लाद दिया गया तो वह अपने सवार को भी ले डूबती है। इसलिए आवश्यक है कि नाव मे लाद दिए गए अतिरिक्त सामान को तट पर ही उतार दिया जाए। यदि तुम धन के मोह मे फँसे रहे तो अंतिम समय में तुम्हारे प्राण उसमे ही अटके रह जाएँगे। उस धन की रखवाली करने वाले सर्प बनेंगे या तिजोरी में बद पडा रहने वाला कीडा। धन का जीते-जी सदुपयोग करने में ही सार्थकता है।

बहुत प्रेमपूर्वक जिओ, इतने प्रमुदित रहो कि तुम्हारे सम्पर्क में आने वाला हर व्यक्ति तुमसे शान्ति और सुकून पाए। अपनी वाणी को भी उतना ही निर्मल बनाओ। मेरी समझ में वह व्यक्ति मूर्ख है जो वाणी का गलत उपयोग करता है, जो भाषा के मर्म मे अनजान है। हृदयवान व्यक्ति की भाषा और वाणी तो सौम्यता और माधुर्य से पूर्ण होती है। वह अपनी बात को बड़े मृदु स्वर में सबके सामने

रखता है। कोई उसकी बात को माने या न माने, वह इस बात की परवाह नही करता। हृदयवान हर किसी को मुफ्त सलाह बॉटने का काम नहीं करता। यदि कोई उसके पास सलाह लेने आता है, तब ही वह उसे सलाह देता है। जो बिन मॉगे सलाह देता है, सम्भव है, वह अपना ही नुकसान कर बैठे।

सीख वाही को दीजिए, जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजे बान्दरा, घर बया को जाय।।

तुम्हारा व्यवहार केवल बाहर वालो के प्रति ही मधुर न हो बल्कि जिस घर मे तुम रात-दिन रहते हो, उसके हर सदस्य के साथ भी इतना मधुर हो कि जब तक तुम घर मे रहो, परिवार वाले इसे अपना सौभाग्य मानें। यह न हो कि घर वाले तुम्हारे घर से निकलने की इन्तजारी करें। स्नेह देकर स्नेह लिया जाता है; प्रेम लुटाकर प्रेम पाया जाता है।

सदैव स्मरण रखो कि 'यदि तुम्हें शान्ति चाहिए तो स्वय शान्त रहो।' अपनी करुणा को इस तरह विस्तारित कर दो कि कोई दीन-दुखी और घायल प्राणी तुम्हारी सेवाओं से वचित न रह जाए। यदि रास्ते में कोई घायल कबूतर मिल जाए तो उसे अवश्य ही अस्पताल ले जाना। यदि यह भी नहीं कर सकते हो, तो उसे दो बूॅद पानी ही पिला देना, ताकि उसके प्राण बच जाएॅ। पार्श्वनाथ ने तो सर्प-युगल को महामत्र नवकार की शरण दिलाकर सद्गति प्रदान की थी। वह सर्प-युगल धरणेन्द्र और पद्मावती बने। तुम भी किसी अतिम सॉसें गिनने वाले घायल प्राणी को, किसी राम या अरिहंत की शरण दिलवाने का प्रयत्न करना। सभव है कि फिर कोई धरणेन्द्र और पद्मावती बन जाए। तुमसे किसी तीर्थकर या भगवत्-पुरुष का कर्त्तव्य पूरा हो जाए।

❑

महावीर का मध्यम मार्ग

प्राचीन कथन है; केवल कथन ही नहीं वचन है, और सूक्त भी है, प्रार्थना और हृदय की पुकार भी है : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'।

हे प्रभु, ले चलो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर। सदा-सदा धरती पर प्रकाश का निवास रहा है। जव भी जगत के अंधकार का आदमी को वोध हुआ है, तव-तव आदमी का अन्तर्हृदय सागर में उठती हुई हिलोरों की तरह पुकार ही उठा—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

जव-जव भी अंधकार ने अपना वसेरा वनाया, आदमी ने अपनी ओर से अपने पुरुषार्थ का उपयोग किया—उस तमस् के निष्कासन के लिए। जव आदमी के वस की वात न रही, तो वह आकाश की ओर अपने हाथ उठाकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा—'प्रभु, तुम भेजो ऐसी किसी परम आत्मा को जो कि अपनी दिव्य ज्ञान की रोशनी से दुनिया के तमस् को मिटाने में हमारा मददगार वने और तव धरती पर उतरे महावीर और वुद्ध जैसे इतिहास-पुरुष, अमृत-पुत्र। तीर्थंकरत्व का वटवृक्ष भी उनमे पल्लवित हुआ और वोधिसत्व का आनंद भी उन्हें अर्जित हुआ। जव कोई काम एक आदमी के वूते की वात न रहे तो उस काम को दो-दो लोग, दस-दस लोग, सौ-सौ लोग, हजार-हजार लोग मिलकर पूरा करते हैं। जव कोई तमस वड़ा सघन और प्रवल हो उठे तो कई-कई लोग साथ मिलें तो चमत्कार घटित हो सकता है।

एक ही समय मे महावीर हुए और उसी समय मे बुद्ध हुए। ताज्जुब की बात है कि दोनो के सामने एक-सी ही परिस्थितियाँ रहीं। दोनो ने एक-सा ही कार्य किया—'एक धार्मिक व्यासपीठ पर आसीन होकर आदमी को धर्म मे आई हुई असत् प्रवृत्तियो को दूर करने के लिए अपने सदेशो को प्रसारित करना; धर्म के फल मे आ चुकी सडन-गलन को दूर करना; धर्म मे आ चुके अधविश्वासो से आदमी को मुक्त करना; धर्म के नाम पर, क्रिया और जड़ता के नाम पर जो-जो चीजे स्थापित और प्रतिष्ठित हो चुकी थीं, उन-उन चीजो को धर्म से अलग करना। धर्म के नाम पर चल रहे व्यर्थ के क्रियाकाण्ड, बलिभोग, उपासना के व्यर्थ के तौर-तरीको के विरुद्ध दोनो ने एक-सा ही काम किया और जगत को रास्ता दिखाते हुए अपने-अपने हिसाब से जीवन के सत्य का, जीवन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

महावीर का मार्ग पंचव्रत का मार्ग कहलाया। पंचव्रत यानी अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। महावीर ने अपनी सारी बातो को, सारे सदेशो को इन पॉच मार्गों से आबद्ध कर जगत के सम्मुख प्रस्तुत किया। यह महावीर का अपना मध्यम मार्ग रहा। भगवान बुद्ध ने अपनी ओर से आष्टांगिक आर्यमार्ग का प्रतिपादन किया—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् सकल्प, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। आजकल तो आर्य अपने आप मे एक जाति बन चुकी है। बुद्ध ने जो 'आर्य' कहा, वह मार्ग की श्रेष्ठता के लिए, सिद्धान्त की श्रेष्ठता के लिए था।

तब की परिस्थितियॉ जुदा थीं। तब धर्म में अधविश्वास आ चुका था, इसलिए उन्हें अपने-अपने हिसाब से मार्ग का प्रतिपादन करना पड़ा। आज जमाना बदल चुका है। हम महावीर और बुद्ध से पच्चीस सौ वर्ष आगे आ चुके है। पहले उन्हे क्रांति करनी पड़ी थी अधविश्वास निष्पादित हो जाने के कारण, आज रूपान्तरण की जरूरत इसलिए आ पड़ी है, क्योकि अब आपके दिलो दिमाग पर भौतिकता हावी हो चुकी है। आज भी वैसी ही क्राति की फिर जरूरत है। जितनी कठिनाइयॉ महावीर और बुद्ध को झेलनी पडी थीं, ऐसी ही कठिनाइयो से फिर जूझना होगा। आज का आदमी उसी पुराने धर्म पर नहीं चल पा रहा है। आदमी चल रहा है रॉकेट की चाल से और धर्म चल रहा है बैलगाड़ी की चाल से। या तो जमाना बहुत

आगे बढ़ जाएगा, या धर्म बहुत पीछे छूट जाएगा। धर्म और समय के बीच एक संतुलन तो स्थापित होना ही चाहिए।

अव जमाना वह नहीं रहा कि ज्ञानीजनों ने या बड़े-बुजुगो ने कह दिया कि तुम ऐसा करो और तुमने वैसा कर लिया। धर्म की किताबे कहती है कि बाईस तीर्थकरो का समय ऐसा रहा कि अगर तीर्थकर अपनी ओर से कुछ भी कह देते तो लोग कह उठते 'तथास्तु', अर्थात् जैसा आपने कहा वही सत्य है और हम उसे उसी रूप में स्वीकार करते हैं। ऋषभदेव का समय, महावीर का समय वक्रजड लोगों का समय रहा, जो तर्क-वितर्क करते थे। आज का समय बुद्धिमान लोगो का समय है। जितना बुद्धिमान आज का औसत आदमी हुआ है, इतनी बुद्धिमानी तो शायद ही सृष्टि के इतिहास में कभी रही हो। आज तो अगर आप अपने बच्चे को भी कह दो, तो बच्चा भी झट से पूछ सकता है कि आप मेरे पिता हैं, इसका क्या प्रमाण? आप जो मुझसे कह रहे है, वैसा मै क्यों करूँ ? जब तक बुद्धिमान को बुद्धिमानी की बात नहीं कही जाएगी, तब तक बात गले के नीचे नहीं उतरेगी। बात हृदयंगम तभी होगी, जब आज के व्यक्ति को बड़े मनोवैज्ञानिक लहजे से, उसको अपनी बुद्धिमत्ता के तरीके से कही जाएगी।

अगर आप कह देगे कि पर्यूषण में हरी सब्जी का उपयोग मत करो, रात मे मत खाओ, माता-पिता को प्रणाम करो, तो आदमी के गले यह बात नहीं उतरेगी। तब तक न उतरेगी जब तक हम उसे उसके कारणों को न समझा दे। कल ही मेरे पास एक किशोर बैठा हुआ था। वह उन्नीस साल से जापान मे रह रहा था और वहीं पैदा हुआ था। उसके पिता ने मुझसे कहा कि 'इसे कुछ मंत्र वगैरह सिखा दीजिए, ताकि यह जाप वगैरह कर सके।' बेटे ने इंकार कर दिया—'नहीं, यह सब फजीहत मेरे से न होगी।' मैने कहा—'आप इसे मेरे भरोसे छोड़ दीजिए। अगर आप इसे अपने तरीके से बताना चाहेंगे तो बात इसके गले न उतरेगी। हम इसे अपने तरीके से बताएँगे तो बात हृदयंगम हो जाएगी।'

महावीर का मार्ग इसलिए संसार के लिए कल्याणकारी और मंगलकारी है, क्योंकि यह मार्ग अत्यंत बुद्धिसम्मत है, विज्ञान सम्मत है। उनका दर्शन गणित और विज्ञान का अद्भुत मेल है। जैसे एक और एक दो होते है; दो और दो चार होते हैं, ठीक ऐसा ही महावीर का दर्शन है, उनका मार्ग है। कोई अगर कहे कि

एक और एक ग्यारह होते हैं तो होते होगे, इसके लिए महावीर हुज्जत न करेगे। ऐसा है महावीर का सार-सदेश।

सामान्य तौर पर बुद्ध मध्यम मार्ग के प्रवर्तक माने जाते हैं। मैं बुद्ध की इस दृष्टि की अनुमोदना करूँगा कि अति से बचकर रहें। हम वीणा के तारों को साधें। उन्हें न तो अति कसें, न अति ढीला छोडे। वीणा के तारों की तरह जिंदगी है। जीवन के हर तार को उतनी ही मात्रा में कसा जाए कि उससे संगीत पैदा हो सके।

बुद्ध ने मध्यम मार्ग के लिए अष्टागिक आर्यमार्ग की बात कही है और महावीर ने रत्नत्रय की। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र—महावीर के तीन रत्न हैं। मैं इस मार्ग को अपने हिसाब से कह देता हूँ।

प्रथम संदेश है—'सही-सही देखो, सुदर-सुदर देखो।' देखने की क्षमता अपने आप मे जीवन के लिए वरदान है, लेकिन क्या देखो और क्या न देखो, इसके लिए तो अपनी बुद्धि का, अपने विवेक का आवश्यक उपयोग करो। दुनिया में गुरु कोई और नहीं होता, वह स्वय व्यक्ति के भीतर रहने वाला बुद्धि का विवेक ही होता है। जो भी सुन्दर है, उस हर चीज को देखो; जो भी चीज सही है, उस हर चीज को देखो। सही दृष्टि से देखो, सुदर दृष्टि से देखो। सुदर को सुदर दृष्टि से देखने का नाम ही महावीर की भाषा मे सम्यक् दृष्टि है।

अगर विकृत दृष्टि को लेकर किसी भी चीज को देखोगे तो उससे विकार का वर्धन ही होगा। गिद्ध अगर आकाश मे पहुँच जाएगा तो भी उसकी दृष्टि धरती पर ही रहेगी ताकि उसे कही कोई मरा हुआ जानवर मिल जाए। आदमी इतना ऊपर चढ़ जाए और दृष्टि फिर भी विपरीत है, विकृत है तो वह ऊपर चढ़कर भी गंदगी को ही टटोलता रहेगा। एक आदमी मदिर पहुँचेगा, जाएगा, ईश्वर की प्रार्थना करेगा। दूसरा आदमी मदिर मे जाएगा वहाँ रहने वाली कमियो की ओर नजर डालेगा और बाहर आकर टीका-टिप्पणी करेगा। एक आदमी सत के पास जाएगा और अपनी कर्म-निर्जरा करके लौटेगा और दूसरा आदमी सत के यहॉ जाएगा और अपने कर्मो को बॉधकर लौटेगा।

एक प्रकृति-प्रेमी किसी बगीचे मे जाता है तो वहॉ जाकर वह फूलो से प्यार करेगा, फूलो का सौदर्य निरखेगा। उसकी जगह एक सुथार चला जाए तो वह लकडी को निरखेगा, उसकी गुणवत्ता परखेगा। जगह एक है, दृष्टि जुदा। अगर

प्रसन्न दृष्टि के साथ इस जगत को देखो तो सारा जगत स्वर्ग दिखाई देगा और विपन्न-विपरीत-विकृत दृष्टि से जगत को देखो तो इससे बढ़कर नरक कोई नजर नहीं आएगा। सारा दारोमदार आदमी की दृष्टि पर है। कृपा करके आँखो में कदाग्रहों की किरकिरी न रखे। आँख के आगे पहले ही हाथ रख दिया, तो सत्य का सूरज आपको रोशन नहीं कर पाएगा। अपना केनवास जितना विस्तृत रखोगे, आपके लिए संसार उतना ही मंगलकारी होता चला जाएगा।

यदि संकीर्ण दृष्टि से संसार को देखा तो यह संसार बहुत ही विपन्न दिखाई देगा और यदि विस्तृत दृष्टि से देखोगे तो संसार सचमुच इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वर्ग नजर आएगा। सही-सही देखने की बात है, इसलिए जब बौद्ध धर्म को पढ़ते हो, तो केवल बौद्ध धर्म को पढ़ो और जब जैन धर्म को पढ़ते हो तो केवल जैन धर्म को पढ़ो। जब जैन को पढ़ते हो, तो बौद्ध दृष्टि को लाओगे तो तुम जैनत्व को भी न समझ पाओगे और बौद्धत्व से भी वंचित रह जाओगे। यदि समग्र दृष्टि रखकर उसे पढ़ो तो वह आत्मसात् होती चली जाएगी। अन्तर्दृष्टि ही अगर निर्मल हो जाए, आँख से अगर सही-सही देखने की हैसियत उपलब्ध हो जाए तो जीवन और जगत का स्वरूप ही बदल जाएगा।

अगर तुम्हारी दृष्टि विकृत रहेगी, तो विकार का कोई निमित्त पाकर विकार ही पैदा होगा और सम्यक् दृष्टि रहेगी तो विकृत दृश्य को देखकर भी व्यक्ति अविकृत ही रह जाएगा। सारा आधार व्यक्ति पर है।

इतिहास की एक बहुत प्यारी-सी घटना रही। एक बड़े वीतरागी संत हुए मुनि शुकदेव। तब वे युवा थे। कहते हैं कि एक बार वे अपने महर्षि पिता के साथ गाँव के बाहर स्थित तालाब के पास से गुजर रहे थे। पिता आगे-आगे चल रहे थे और वे उनसे काफी दूर पीछे-पीछे आ रहे थे। आगे चलते पिता ने देखा कि तालाब में कुछ स्त्रियाँ अपने हिसाब से स्नान कर रही थीं। स्त्रियों ने जब शुकदेव के पिता को आते देखा, तो झट से दौड़ती हुई वे वटवृक्ष के नीचे आईं और सबने अपने-अपने ढंग से वस्त्र अंगीकार किये और एक किनारे टिटक कर बैठ गईं।

शुकदेव के पिता ने स्त्रियों की इस क्रिया को देखा और मन में सोचा—'गाँव की ये महिलाएँ कितनी भद्र हैं, जो एक बूढ़े-बुजुर्ग व्यक्ति का कितना मान रखती हैं। वे थोड़ा आगे बढ़े कि तभी उनके मन में ख्याल आया कि मेरा पुत्र शुकदेव भी पीछे-पीछे आ रहा है। क्या ये महिलाएँ उसके सम्मुख भी अपना

भद्रता दिखाती है ? यही सोचकर उन्होने पीछे मुडकर एक नजर डाली तो वे यह देखकर अचभित हुए कि महिलाएँ लापरवाही से नहाने मे लगी थीं। मगर शुकदेव अपनी ही धुन मे बस बढ़े जा रहे थे। उन्हे न तो महिलाओ की मौजूदगी का अहसास हुआ और न उनकी 'निर्लज्जता' का ही। वे महिलाएँ भी शुकदेव के प्रति पूरी तरह आश्वस्त बनी रहीं।

अगले ही दिन शुकदेव के पिता उन महिलाओ के पास गॉव मे पहुँचे और क्रोधित होकर कहा—'तुमने एक वृद्ध सत को देखकर नहाते-नहाते वस्त्र पहन लिये और शुकदेव को देखकर बेहयाई से नहाती रहीं। तुम्हे शर्म नहीं आती ?' महिलाओ ने कहा—'यह प्रश्न तो शुकदेव को आकर हमसे करना चाहिए था। पर शुकदेव ने नहीं किया, वरन् शुकदेव के पिता ने किया। जहॉ दोनो के प्रति दृष्टि समान हो जाती है, वहॉ क्या स्त्री, क्या पुरुष ! उस आदमी की ऑखो के आगे चाहे जैसा दृश्य आए, वह तो दोनो मे समत्व भाव रखता है। यही महावीर के मध्यम मार्ग का प्रथम चरण है, जिसे महावीर ने सरल भाषा मे 'सम्यक् दृष्टि' कहा है यानी 'सही-सही देखो, सुंदर-सुदर देखो।'

दूसरा चरण है—'सही-सही जानो, सुंदर-सुंदर जानो।' ज्ञान आदमी का स्वभाव है, उसकी शक्ति है, जीवन का प्रकाश है। सुकरात कहेंगे—'नॉलेज इज लाइट'। ज्ञान ही प्रकाश है। महावीर कहेगे—'पढम नाण तओ दया'।

दया भी करना है, तो बाद में करना। उससे पहले उसका ज्ञान हो। पार्श्वनाथ कहेंगे—'तुम्हें तपस्या भी करना है, तो बाद मे करना, क्योकि ऐसा न हो जाए कि तुम्हारा तप अज्ञान तप हो जाए।' गीता कहती है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः'। ओ, मेरे प्रिय पार्थ, अगर ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित हो जाए तो सारे कमो को भस्मीभूत कर सकती है। यह ज्ञान इतना आवश्यक है।

मैंने ज्यो-ज्यो ज्ञान पाया है, त्यो-त्यो अपने अज्ञान को पहचाना है। ज्ञान का अर्जन अपने स्वय को पहचानने के लिए ही किया जाता है, ज्ञानी बनने के लिए थोडे ही किया जाता है। आप पुस्तकें पढ़ते हैं, बड़े प्रेम से पढ़ें, अच्छी पुस्तकें पढ़ें। ऐसी पुस्तके पढ़ कि जिनमे केवल सूचनाएँ ही नही हों, वरन् जो जीवन को जीने की कला सिखाने वाली हो।

क्रोध बुरा, काम बुरा, राग बुरा, द्वेष बुरा—यह कहना या पढ़ लेना कितना आसान है, लेकिन इसका बोध हममे से किसको होता है। पढ लेने से या सुन

लेने से क्या किसी का क्रोध कभी मिटा है? आदमी का क्रोध तब मिटता है, जब उसे अपने अज्ञान का बोध हो जाता है। कोई मुझसे कहे कि आपका क्रोध कैसे मिटा, तो मै इतनी-सी बात कहूँगा कि जिस दिन यह बात समझ मे आ गई कि क्रोध करना कितनी बड़ी बेवकूफी का काम है। उसी दिन चित्त से क्रोध की तरंग मुक्त हुई। आदमी को जैसे ही अज्ञान का बोध हो जाता है कि यह मेरा अज्ञान था कि मैं बात-बेबात में चिढ़ता-आक्रोश करता, एक-दूसरे के साथ वैर-वैमनस्य कर लेता था। जैसे ही इस अज्ञान का बोध होता है, आदमी का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

ज्ञान ऐसा हो जिससे आदमी को जीने की कला आए। भीतर मे कोई भी असत् प्रवृत्ति अथवा कषाय की कोई ऐसी तरग उठे तो वह उस पर नियंत्रण कर सके, उसका रूपान्तरण कर सके। ज्ञान का वह मार्ग आदमी के लिए वैज्ञानिक मार्ग होता है जो हर व्यक्ति के लिए स्वीकार्य होता है। आप स्वाध्याय करते हैं, स्वाध्याय कीजिए। ज्यादा न सही, पंद्रह मिनट का स्वाध्याय अवश्य कीजिए। पुस्तकें हमें बीते हुए कल का रास्ता दिखाती हैं और आने वाले कल का रास्ता प्रशस्त करती हैं। जिस घर मे अपना एक छोटा-सा पुस्तकालय है, वह घर, घर नहीं, अपने आपमें एक ज्ञान-मंदिर है। जो आदमी सुबह-सुबह कुछ अच्छी-अच्छी बातो को पढ़ता है, उसका सारा दिन तरंगित रहता है।

आदमी का ज्ञान अधकचरा है, समझ अधकचरी है। अपूर्ण समझ होने के कारण ही उसकी कथनी और करनी में, ज्ञान और आचरण में एक बहुत बड़ा फासला बना हुआ है। आदमी केवल ऊपर-ऊपर की बातो मे उलझ जाता है। इससे जीवन में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। मै यह बात सिद्धान्त के साथ रखना चाहता हूँ कि आदमी अगर ऊपर-ऊपर ही जीता रहा तो केवल राख पर की गई लीपा-पोती भर होगी। आदमी को सही समझ की जरूरत है। जैसे एक बच्चे को कितना ही टोको कि आग मे अंगुली मत डालना, पर वह डाल ही देता है और यदि एक बार जल जाए तो वह ताजिंदगी उस अनुभव को भूलने वाला नहीं है। वह अपने हाथ को फिर कभी नहीं जलाएगा, क्योकि उसे समझ आ गई है।

जिस दिन यह अहसास हो जाएगा कि क्रोध करना बुरा काम है, आदमी स्वयं अपने भीतर मनन करेगा और उसका क्रोध छँट जाएगा। बुराइयाँ बिखर जाएँगी। सच का संकल्प प्रगाढ़ हो जाएगा।

आगरा की बात है। कोई सात-आठ चार्टर्ड एकाउटेट हमारे पास बैठे हुए थे। सबको गुटका खाने की आदत थी। उनके दॉत देखो, तो लगता था कि लाल पत्थर की दीवार हो। उनक पास बैठो तो दुर्गन्ध आती थी। उनको बैठे हुए दो घटे हो चले थे, इसलिए गुटके की तलब हो चली। उनमे से एक ने दूसरे को इशारा किया और गुटके का पाउच निकाल लिया। वे सब हमसे घुल-मिले थे इसलिए उन्हें हिचक न हुई, झट से फॉक लिया।

तभी हवा का एक झोका आया और पाउच उडकर मेरे पास आ गया। मैने पाउच उठाया और कहा—'आप पढे-लिखे लोग हैं, कृपया इस पाउच पर लिखी हुई लाइन पढ़कर सुना दें।' एक ने पाउच लिया और पढना शुरू किया—'वैधानिक चेतावनी...' वे इससे आगे न पढ पाए। नतीजा यह निकला कि वह महानुभाव खडे हुए, अपने कान पकडे और कहा—'आज के बाद मैने गुटका खाया, तो गधे की लीद खायी। आज के बाद मै इसे नही खाऊँगा।' जिदगी मे पहली बार उसे अपने अज्ञान का अहसास हुआ। मैने अपनी ओर से ज्ञान कुछ न दिया, केवल उसके अज्ञान का उसको अहसास करवाया। उस एक व्यक्ति की देखा-देखी सभी ने गुटका न खाने का सकल्प लिया। आदमी को कोई बडे पूजा-पाठ, अनुष्ठानो की जरूरत नहीं है। उसे केवल समझ चाहिए। समझ पा ली तो समझिए हर समस्या का हल, उसकी कुजी मिल गई।

जीवन के मध्यम मार्ग का तीसरा चरण है—'सही-सही करो, सुदर-सुदर करो।' अगर समझ सही है तो आचरण अपने आप सही होगा; अगर समझ गलत है तो आचरण अपने आप गलत होगा। अगर आदमी शराब पीता है, तो इसका अर्थ हुआ कि उसे होश नहीं है, उसकी समझ उल्टी है। जिस दिन उसकी समझ सही हो जाएगी, उसकी शराब छूट ही जाएगी। समझ आने के बाद आदमी जो-जो करता है, सही-सही करता है, सुन्दर-सुन्दर करता है।

आप जब सुबह उठें, तो बगीचे मे जाएँ और देखे कि वहॉ कितने प्यारे-प्यारे फूल खिले है। उन फूलो से प्यार करो। देखो तो सही आपके घर मे बच्चे ऐसे ही अठखेलियॉ किया करते है, जैसे त्रेता और द्वापर युग मे राम और कृष्ण किया करते थे। छोटा है या बडा, अपने घर से प्यार करो, उसकी स्वच्छता का ध्यान रखो। केवल मदिर ही हमारे लिए मदिर न रहें, वरन् घर भी हमारे लिए मदिर रूप बन जाए। घर मे कही-कुछ भी बिखरा पडा है, बेतरतीब है तो आप उस

अपने हाथो से सजाएँ। आधे घंटे के योगासन से अच्छा है, उस बिखरे हुए साजो-सामान को सजाना। यह अपने आप मे बहुत बढ़िया योगासन है।

अगर आप अपने जूते भी खोलते हैं, तो बड़े सलीके से जूते खोलें। ऐसे नहीं कि घर में पहुँचे, और जहाँ जी चाहा, धड़ाम से जूते खोल दिये। आप निर्धारित स्थान पर जूते खोलें, खोलने के बाद उन्हें सलीके से कतार में रखे। आखिर आदमी का कार्य ही उसकी कुलीनता और पात्रता की परख करता है।

मुझे याद है, रात का वक्त था। एक महानुभाव मेरे पास आए। उनके पास एक छाता था। उन्होने छाते को एक तरफ फेंका और मेरे पास चले आए और कहने लगे—'मै आपसे साधना सीखना चाहता हूँ।' मैंने कहा—'यह अच्छी बात है कि तुम साधना सीखना चाहते हो, पर क्या पहले तुम मुझे यह बताओगे कि तुमने अपना छाता दायीं ओर रखा है या बायीं ओर?' वह चौका—'इससे मतलब?' मैंने कहा—'जब तुम्हें यह भी पता नहीं है कि तुमने छाता किस ओर रखा है, तो तुम्हे साधना के सूत्र कैसे याद रहेंगे?' अगर आप यहॉ से वहॉ जा रहे हैं और आपको ऐसा लगा कि बीच मे कोई किताब या अखबार पडा है और आप बगल से यूं ही गुजर गये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप में अनुशासन नहीं है, व्यवस्था नही है, सजगता नहीं है। अगर घर में कचरा बिखरा पड़ा है तो चिल्लाओ मत। अपने हाथ से उस कचरे को उठाओ और उसे कचरा-पात्र में डाल दो। यह सही-सही करना हुआ, सुन्दर-सुन्दर करना हुआ।

सुबह जल्दी उठे, सूरज उगने से पहले जगें। जो सूरज के उगने से पहले खुद उग जाता है, उसका दिन जगा हुआ रहता है। मैंने तो सुना है कि सूरज के उगने से पहले कमल खिल जाते हैं, गुलाब खिल उठते हैं, चिड़ियाएॅ चहचहाने लगती है, तो फिर आदमी ही अपने आप मे सोया हुआ क्यो रहे! क्यों न वह भी चहचहाए, चिड़ियो के सुंदर-सुंदर गीतों को सुने। जैसे जगते ही हम पुराने जूतों को उतार फैकते है, वैसे ही अपनी वृत्तियों को उतार फैंकें, बिलकुल अप्रमत्त होकर जाग्रत हो जाएॅ। दिन मे आप व्यवसाय करे, काम करें। सॉझ को घर आएँ, तो अपने बच्चो से प्यार करें, घर वालो से प्यार करे और अपने पड़ौसी से भी प्यार करे। प्रेम से जीएँ, बड़े सौहार्द-भाव से—सौजन्य-भाव से हम अपने जीवन को बड़े आनंद भाव से जीएँ।

सही-सही करो, सुदर-सुदर करो; सही-सही देखो, सुदर-सुदर देखो सही-सही जानो, सुन्दर-सुन्दर जानो—ये तीनों छोटे-छोटे, मगर बडे प्यारे-प्यारे सूत्र है, जिनको कि आज फिर से जीवित किया जाना चाहिए। आज हम चाहे जिस भौतिक युग मे जी रहे है, चाहे जिन सुख-साधनो के बीच जी रहे है, उससे कोई ऐतराज नहीं है। हम अपने जीवन को आध्यात्मिक स्वरूप दे सकते हैं; अपने जीवन को वैसा यथार्थ स्वरूप दे सकते है, जैसी कि कभी महावीर या बुद्ध ने पहल की थी। हमारे भीतर भौतिकता के प्रति जो संमूर्च्छा बनी हुई है, उसे दूर करने के लिए ये तीन सूत्र बड़े चमत्कारी साबित हो सकते है। फिर इन सूत्रो को जीवित किया जाना चाहिए। ज़रा मुस्कुराएँ, अपने अन्तर्हृदय मे इन सूत्रो को उतरने दे; देखें और आनंद मनाएँ।

नमस्कार।



ऐसा हो जीवन का दर्शन

जीवन का दर्शन जितना उम्दा है, उतना ही ऊँचा भी है। यह जितना उलझा हुआ नजर आता है, उतना सुलझा हुआ भी है, जितना अस्पष्ट नजर आता है, दर्पण की तरह उतना ही साफ-सुथरा भी है; जितना रहस्यमय नजर आता है, उतना ही आँखो के समक्ष स्पष्ट भी है। अगर इन्सान को. जीने की कला आ जाए तो जीवन वीणा के तारो की तरह संगीत से झंकृत हो उठेंगा। तब जीवन उतना ही सौन्दर्य से आपूरित हो उठेगा, जितना कि सुबह के सूरज के संस्पर्श से खिलने वाले गुलाब के पुष्प की पंखुड़ियाँ खिली होती है। जीवन उतना ही आनन्दित हो उठेगा, जितना कि हृदयवान व्यक्ति के हृदय की आनन्दपूरित स्थिति होती है।

जिन्हें जीने की कला नही आती, उन्हीं के लिए जीवन निराशा और उदासीनता का दलदल होता है। जो लोग जीवन को जानते हैं, जिन्होने जीवन को जीया है, वे भली-भाँति जानते है कि जीवन सगीत, सौन्दर्य और आनन्द से आपूरित होता है। अगर किसी व्यक्ति के लिए जीवन मे संगीत नहीं है तो हम यही मानकर चले कि वह व्यक्ति बधिर है। अगर किसी व्यक्ति के लिए जीवन में सौन्दर्य नहीं तो वह अवश्य ही दृष्टिहीन है और अगर कोई व्यक्ति जीवन से आनन्दित नहीं है तो निश्चित रूप से वह व्यक्ति हार्दिकता से वंचित है।

जीवन कोई व्यवसाय नहीं है कि तुम उसे घर से दुकान और दुकान से घर तक पूरा कर डालो। पैसा ही व्यक्ति का जीवन नहीं है। पैसा व्यक्ति के जीवन का तोरणद्वार हो सकता है, लेकिन उसके जीवन की सुख-शैय्या नही हो सकता। पैसा व्यक्ति के जीवन का रास्ता हो सकता है, लेकिन जीवन की मजिल नहीं हो सकता। व्यक्ति अपने जीवन के सौन्दर्य और माधुर्य से इसलिए वचित हो रहा है, क्योकि उसने अपने जीवन का साध्य मात्र धन को बना लिया है। कभी आप एकान्त मे बैठकर चिन्तन करे कि कहीं आपका जीवन सिमटकर एक धन्धा या व्यवसाय तो नही बन गया है?

मुझे याद है . एक बहुत प्यारे दार्शनिक हुए, जिनका नाम था अरस्तु। अरस्तु के जीवन की एक विशेषता यह थी कि वे पशु-पक्षियो की भाषा भी समझ लेते थे। पता नहीं, एक व्यक्ति को यह बात कैसे पता चल गई कि अरस्तु पशु-पक्षी की भाषा भी जानते है। वह व्यक्ति अरस्तु के संग हो गया और उनसे इस बात की गुहार करने लगा कि उसे भी पशु-पक्षी की भाषा सीखा दी जाए। अरस्तु नकार जाया करते, कहते कि यह तुम्हारे काम की नही है। पर वह व्यक्ति तो पीछे ही पड गया तो अन्तत. अरस्तु ने उसे पशु-पक्षी की भाषा के संकेत सीखा ही दिए। वह व्यक्ति सीखकर बहुत खुश हुआ, क्योकि उसके पास बहुत से पशु-पक्षी थे। उसने सोचा कि अब वह पशु-पक्षी की भाषा समझकर, उनकी समस्याओ का समाधान कर सकेगा।

कहते हैं कि एक बार वह व्यक्ति सुबह उठकर अपने पशु-पक्षियो की भाषा समझने का प्रयास कर रहा था। तभी उसने सुना कि एक मुर्गा, मुर्गी से कह रहा है कि 'अरे ! अपने पास ये जो दो गधे खडे है, इनका जीवन आज का ही बचा है, कल सुबह का सूर्योदय ये नही देख पाएँगे।' यह सुनकर मालिक बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि मै इन्हे आज ही बेच दूँगा और हानि से बच जाऊँगा। उसने गधो को बेच दिया और अगले दिन पता लगाया तो मालूम हुआ कि वास्तव में वे गधे अगले दिन का सूर्योदय नहीं देख पाए थे।वह व्यक्ति मन ही मन प्रसन्न हुआ कि वह पशु-पक्षी की भाषा समझने से बहुत बड़े नुकसान से बच गया।

दिन बीतते गए। एक दिन फिर उसने उस मुर्गा-मुर्गी को बतियाते हुए सुना। मुर्गा मुर्गी से कह रहा था—'लगता है, इस बार मालिक को हानि हो ही जाएगी, क्योंकि इन दो घोड़ो का जीवन भी मात्र आज का ही शेष है।' मालिक ने जव यह

सुना तो उसने घोड़ों का भी वही हाल किया जो कि उसने गधो का किया था। उसने उन्हे भी बेच दिया। अगले दिन जब ज्ञात हुआ कि वे घोड़े मर गए हैं तो उसे अपने नुकसान के बचाव पर बहुत खुशी हुई। इसी प्रकार फिर किसी दिन उसने मुर्गा-मुर्गी का वार्तालाप सुना और जब उसे पता चला कि उसके पास जो चार खच्चर हैं उनका जीवन भी मात्र दो दिन का बचा है तो उसने उन खच्चरो का भी वही हाल किया जो गधे और घोड़ों का किया था। उन्हे भी औने-पौने दाम मे बेच ही दिया।

इसी प्रकार जब वह व्यक्ति किसी सुबह मुर्गा-मुर्गी की बाँग सुन रहा था तो उसने उन्हें आपस में बोलते सुना—'अपना मालिक भी अब दो दिन का ही मेहमान है। दो दिन बाद यह भी मर जाएगा।' यह सुनते ही उस व्यक्ति के होश उड़ गए। वह घबराया और भागकर सन्त अरस्तु के पास गया। वह उनसे प्रार्थना करने लगा कि वे उसका जीवन बचा लें। अरस्तु ने कहा, 'अरे ! तूने कुछ और ही समझ लिया। ये मुर्गे तो यों ही बाँग देते रहते है। तू भयभीत न हो।' व्यक्ति ने कहा, 'मुर्गे ने गधों के बारे में कहा, वे चल बसे। उसने घोड़ो के बारे में कहा था और वे भी मर गए और खच्चरों के बारे में कहा था और वे भी कालकवलित हो गए। फिर मैं कैसे बचा रह सकता हूँ ?'

अरस्तु ने कहा—'तुमने उन गधे, घोड़ों और खच्चरो का क्या किया ?' उस व्यक्ति ने कहा—'मैंने उन सबको बेच डाला।' अरस्तु ने कहा, "जो काम तुमने उन गधे, घोड़ों और खच्चरो के साथ किया, वही काम अपने साथ कर डालो। व्यक्ति ने कहा, "मतलब ? अरस्तु ने कहा, "ठीक उसी तरह खुद को भी बेच डालो।" लेकिन उस पैसे का मालिक कौन होगा ? जब मालिक ही चला जाएगा तो माल की कीमत कितनी-सी रह जाएगी ! माल मूल्यवान हो सकता है, पर मालिक से अधिक नहीं। साध्य से अधिक साधन की कीमत नहीं हो सकती। इस बात को हम अच्छी तरह हृदयंगम कर ले कि जीवन से अधिक मूल्यवान कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

एक बालक नदिया मे डूब रहा था और वह अपने बचाव के लिए चिल्ला रहा था। उसकी आवाज किसी राहगीर ने सुनी और उसने छलांग लगाकर नदिया से उस बालक को निकाल लिया। जब बालक बाहर आया तो उसने उस राहगीर को धन्यवाद दिया। राहगीर ने कहा, 'धन्यवाद किस बात का ?' बालक ने कहा, 'आपने मेरा जीवन बचाया, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद दे रहा हूँ।' राहगीर

ने कहा, 'बेटे, जब तुम बडे हो जाओ तो सदैव इस बात का ध्यान रखना, इस बात का बोध रखना कि तुम्हारा जीवन बचाने लायक था।' हॉ, 'चन्द्रप्रभ' आपसे इसीलिए मुखातिब हो रहा है, क्योकि वह जानता है कि आपका जीवन बचाने लायक है, आपका जीवन जीने लायक है और आपका जीवन उन्नति और प्रगति के द्वारो से गुजरने लायक है।

जीवन का दर्शन उतना ही साफ-सुथरा और सपाट होता है, जितना कि गणित और विज्ञान का दर्शन होता है। जीवन तो सृष्टि के विज्ञान का एक अद्‌भुत स्मारक है। जिस प्रकार गणित मे दो ओर दो, चार होते है, उसी प्रकार जीवन की सारी व्यवस्थाऍ है। यदि कोई दो और दो को बाईस कहे तो यह उसकी मर्जी है, पर गणित के नियमानुसार तो एक और एक दो ही होते हैं। जीवन का दर्शन ऐसा ही है; जैसे कि गणित के फॉर्मूले होते है। उनमें किसी की घुसपैठ नहीं चलती। विज्ञान कहता है कि सौ डिग्री सेल्सियस पर पानी भाप मे बदलता है, तो यह बात निश्चित है। जीवन का दर्शन एव व्यवस्था भी इसी प्रकार की है। तुम चाहे पतीले में पानी डाल दो और फिर किसी भी ईश्वर से उस पानी के गर्म होने की इबादत करने लगो, लेकिन पानी तब तक गर्म नहीं होगा, जब तक पतीले के नीचे आग नहीं जलाई जाएगी। तुम जीवन का दर्शन नहीं समझ रहे हो, गणित और विज्ञान के सर्वस्वीकृत नियमों की अवहेलना कर रहे हो। कोरी प्रार्थनाऍ कर लेने भर से जीवन का पानी भाप नहीं बनता। वह भाप तभी बनता है जब उसके नीचे आग जलाने का विज्ञान पैदा किया जाता है।

आज हर बुद्धिमान और प्रबुद्ध व्यक्ति को यह बात समझ लेनी चाहिए कि चाही गई मंजिल तभी मिलेगी, जब सही और उचित रास्ता अपनाया जाएगा। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम किसी धर्मस्थल पर लाखो रुपयो का दान दे दो। अपने सौ-सौ पापो को छिपाकर भी यह बात याद रखना कि जैसे कोढ़ के रोग को भले ही किसी पेट-कमीज या रेशम के कुर्ते से ढाक दिया जाए, लेकिन वह आज नहीं तो कल अवश्य ही प्रकट होकर आएगा। अगर सही राह चलोगे तो सही मजिल ही मकसूद होगी और गलत बीज बोने से गुलाब नहीं, वरन् कैक्टस के कॉटे ही मिलेगे।

जीवन का अपना विज्ञान है, अपना गणित है, अपना दर्शन और अपनी गहराई है। मै जानता हूॅ कि जीवन का आनन्द, उसका सगीत और माधुर्य कितना

अनेरा है, क्योंकि उस आनन्द को मैं स्वयं जी रहा हूँ, उस संगीत को सुन रहा हूँ और उस माधुर्य का आस्वादन कर रहा हूँ। शायद किसी व्यक्ति के लिए मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारा कहीं और होगा, पर मै जब अपने भीतर झाँकता हूँ तो लगता है कि मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारा सब हमारे ही अन्दर हैं। मैं प्रतिक्षण-प्रतिपल स्वयं को उस मन्दिर, मस्जिद और गुरुदारे में ही पाता हूँ।

जैसे सौ डिग्री सेल्सियस पर पानी भाप बनता है और दो और दो जोड़ने पर चार होते हैं, ऐसे ही जीवन में कुछ सूत्रों को अपनाने पर जीवन का दर्शन दिव्य बनता है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए, जो पहला वैज्ञानिक सूत्र अर्थात् जीवन-सूत्र देना चाहूँगा, वह यह है कि जो भी सोचो, अच्छा और सुन्दर हो। जीवन का पहला सोपान, पहला सूत्र, और पहला बीज है—स्वस्थ और सुन्दर सोच। मनुष्य, शरीर की दृष्टि से बहुत ही कमजोर होता है, वह न तो आकाश में किसी पक्षी की भाँति उड़ सकता है, न ही तालाब में रहने वाले किसी मेढक की तरह फुदक सकता है। वह न ही सागर में रहने वाले किसी घड़ियाल की तरह झपट सकता है, न ही किसी बाज की तरह उसकी पैनी निगाहें है। मानव-देह की क्या बिसात ! उसे एक छोटा-सा बिच्छू भी खत्म कर सकता है। लेकिन बावजूद इसके, प्रकृति मनुष्य को एक ऐसी क्षमता प्रदान करती है, जो पृथ्वी के अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं है, वह क्षमता है—सोचने और विचारने की क्षमता।

मनुष्य की सोचने और समझने की क्षमता ही उसे पृथ्वी पर अस्तित्वमान अन्य प्राणियों से अलग करती है। इसी क्षमता के चलते ही मनुष्य, मनुष्य है, अन्यथा मनुष्य से गया-गुजरा कोई जानवर नहीं हुआ। क्या हम सभी इस बात पर विचार करेंगे कि हम उस क्षमता, सम्पदा और योग्यता का क्या, कैसा, कब और कितना उपयोग करते हैं? सोचना मस्तिष्क का धर्म है, पर क्या हम इस विन्दु पर भी कभी मनन करते है कि हमारी सोच का स्वरूप क्या हो, कैसी हो हमारी सोच? सोचना एक बहुत बड़ी कला है। जो स्वस्थ-सुन्दर सोच का स्वामी है, वह स्वस्थ-सुन्दर जीवन का मालिक है। इसीलिए कहा करता हूँ कि मनुष्य अपनी सोच स्वस्थ और सकारात्मक रखे।

सोच किसी बीज की तरह है। व्यक्ति अपने जीवन में वही क्रियाएँ करता है, जो उसके विचार और सोच में होती हैं। ध्यान रखियेगा, वृक्ष उसी रूप में पल्लवित होता है, जैसा उसका बीज होता है। व्यक्ति का जीवन, उसका मस्तिष्क

एक महकते हुए बगीचे के समान सुंदर हो सकता है, बशर्ते उसमे सुन्दर और स्वस्थ सोच के बीज डाले जाएँ। यदि उस उपवन मे सुन्दर और स्वस्थ विचारो के बीज नही बोए गए तो यह मस्तिष्क तो एक जगल है, जहाँ बिना कोई बीज डाले भी कुछ अनावश्यक घास-फूस उग ही आती है। हमे दो-तरफा प्रयास करने होंगे। पहला स्वस्थ और सुन्दर विचारो के बीज बोने होगे और दूसरा, जो बुरे और गन्दे विचारो की घास-फूस उग आई है, उसकी कटाई-छँटाई भी करनी होगी।

अच्छी सोच आदमी की स्वप्न-दशा को प्रभावित करती है। सपना सोच का ही मुखरित हुआ रूप है। सपना व्यक्ति के निजी जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। व्यक्ति जितना ईमानदार सपने मे होता है, उतना ईमानदार अपनी जिन्दगी मे कभी और कहीं नही होता। बाहर तो तुम ईमानदार बने रहते हो पर सपने मे तुम वह सब कुछ बड़ी ईमानदारी से कर लेते हो जिसे बाहर चोरी, डाका या बलात्कार कहते हैं। वह आपकी ईमानदारी की परख के लिए कसौटी है, आपका अपना आईना और अपना निजी 'फेस' है। पब्लिक फेस तो आपका पूरी दुनियाँ जानती है, लेकिन आपका अपना प्राइवेट फेस आपको सपने में दिखता है। बाहर से तुम अणुव्रती हो, पर भीतर से भी तुम अणुव्रती हो या हिंसक, यह तो तुम्हें तुम्हारे सपने से ही मालूम हो पाएगा।

अगर आप अपनी भावी सतति को अच्छे विचार और सही दिशा देना चाहते हैं तो सुबह उससे अवश्य पूछें कि तुमने कल रात सपने मे क्या देखा? बच्चे ने अगर बताया कि कल रात उसने सपने मे पड़ौस के बच्चे के साथ लड़ाई-झगड़ा किया, दोनों के बीच गाली-गलौच हुई तो सावधान हो जाएँ। जो बात आज उसके सपने में आई, वह कल अवश्य ही व्यवहार मे आएगी। इसलिए उस समय अपने बच्चे की बात सुनकर मुस्कराना नही, उसे माफ नहीं करना, बल्कि उससे कहना कि जाओ और पड़ौसी के बच्चे से माफी माँगकर आओ। यदि तुमने उस समय उसके चित्त और हृदय मे प्रेम, करुणा और क्षमा की रसधार न बहाई तो चित्त का वह मामूली घाव कल नासूर में बदल जाएगा; तुम्हारे और तुम्हारे पड़ौसी के बीच एक दीवार खड़ी कर देगा।

यदि तुम कहते हो कि तुम ईमानदार हो, बुद्धिमान हो और एक सास्कृतिक सम्पदा को अपने भीतर सहेजे हुए हो, तो मै कहूँगा कि तुम अपनी सोच और मन की दिशा को भी उसी के अनुरूप बना लो। तुम पाओगे कि तुम्हारा जीवन

कितना अर्थपूर्ण हो गया है। पहला सूत्र कहता है कि स्वस्थ और सुन्दर सोचो। यदि कोई अशुभ विचार आ जाए, तो तत्काल उसे बाहर निकाल फैको, मन को नियंत्रित कर लो। महावीर ने इसे ही मनोगुप्ति कहा है। जीवन को दिशा देने के लिए, तुम स्वयं ही जवाबदेह हो। कोई अन्य व्यक्ति आपकी जीवन की दिशा और दशा नही बदल सकता। व्यक्ति को स्वयं ही अपनी सोच और समझ में, जीने की शैली मे परिवर्तन कर जीवन की दिशा और दशा तय करनी होती है।

जीवन के विज्ञान का दूसरा चरण है—सही देखें और सुन्दर देखें। देखें, मगर प्यार से। सुन्दर नजरों से। ऐसी नजर से जिसमें सत्य-शिव-सौन्दर्य की रोशनी हो। सुन्दर दृष्टि ही जीवन को सुन्दर बनाती हो। बदसूरत नजर आदमी की सूरत को ही बिगाड़ देती है। आप सड़क पर चल रहे हैं, और सभव है, सड़क के किनारे कोई पोस्टर लगा है। आप उस पोस्टर को देख रहे हैं, सोच रहे हैं, क्या खूब नजारा है। आगे बढ़े जा रहे है उस दृश्य को आँखों मे लिये हुए। आप भूल चुके हैं कि आगे गटर का ढक्कन खुला हुआ है। आप धड़ाम से उसमें जा गिरेगे। इसलिए सावधान ! सही देखो, सुन्दर देखो। अगर आँख पर काला चश्मा चढ़ाकर रखोगे तो सब कुछ काला ही दिखेगा। तुम्हे किसी व्यक्ति में बुराई दिखती है, उसका कारण यह है कि तुम्हें बुरा ही देखने की आदत पड़ गई है। हो सकता है, उसमे बुराई हो, कोई कमी हो, पर तुम्हारी सबसे बड़ी कमी यह है कि तुम दूसरो मे बुराई देखते हो। कोई भी व्यक्ति सर्वगुणसम्पन्न नहीं हो सकता। लोगो ने तो तीर्थकरों और अवतारो मे भी कम कमियाँ नहीं देखी हैं। तुम्हारी महानता और बड़प्पन तो इस बात में है कि तुम दूसरो के गुण और अच्छाई देखो।

तुम यदि काला चश्मा लगाकर किसी 'चन्द्रप्रभ' के पास गए तो तुम्हें उसमे भी सौ-सौ कमियाँ नजर आ जाएँगी और अगर साफ-स्वच्छ-प्रेममय दृष्टि लेकर गए तो उसमें इतने गुण मिल जाएँगे कि गणना भी मुश्किल हो जाएगी। अच्छा होगा, व्यक्ति स्वयं की कमियाँ देखे, ताकि उसका जीवन सँवर जाए, सुधर जाए। मेरी कमियो को देखने से आपके जीवन में या आपकी कमियों को देखने से मेरे जीवन में कोई सुधार नहीं आ सकता। जब किसी पर अँगुली उठाओगे तो एक अँगुली उसकी तरफ जाएगी और बाकी तीन अँगुलियाँ स्वयं अपनी तरफ मुड जाएँगी। सत्संग का यह आयोजन किसी पर अँगुली उठाने का कार्यक्रम नहीं है वरन् यह चारों अँगुलियों को स्वयं की तरफ मोड़ने का अभियान है। संकल्प करें,

जब भी देखेगे, स्वय को देखेगे। अगर दूसरो को देखेगे तो उनके गुण और अच्छाइयो को ही देखेगे। यही है सम्यग् दर्शन।

सकीर्ण नजरिये से देखोगे तो यही पहली भूल हो जाएगी और यदि दृष्टिकोण विशाल रखा तो तुम्हें कही कोई भूल नजर न आएगी। कहने को तो भारतवासी यह कह देते है कि 'हम सब एक हैं' पर जब जीने की बात आती है तो सब लोग वर्ण, जाति, धर्म और सम्प्रदाय को लेकर दूरियॉ बना लेते है और धर्म की कट्टरताओ मे जकड जाते है। वे भूल जाते है कि हर धर्म मे, हर पथ मे अच्छाइयॉ होती है। जब भी किसी ने कट्टरता को पोषित किया है, उसे अपनाया है, वह कभी समुद्र नही बन पाया है। वह मात्र कुएँ का मेंढ़क बनकर ही रह गया है। जितना अपने आपको विराट बनाओगे, सारा आकाश, सारी सृष्टि आपकी होगी और अगर अपने आपको दायरो मे सिमट लिया तो एक छोटी-सी झोपड़ी भी आपके लिए एक विशाल गुफा से कम न होगी।

एक बहुत पुरानी कहानी है। महावीर देख रहे थे कि कुछ अन्धे लोग किसी जंगल से गुजर रहे है। उनके हाथ एक जानवर लगता है। लोग कहते है कि यह जानवर हाथी है। जब एक अन्धा, हाथी के कान पर हाथ रखता है और उसे हिलाता है तो वह कहता है कि हाथी, हवा देने वाली पखी जैसा होता है। दूसरा अधा जिसके हाथ मे हाथी के पॉव लगते है, वह लोगो के पास आकर कहता है कि हाथी तो पेड़ की तरह होता है। तीसरा अधा, जिसके हाथ मे हाथी की पूॅछ लगती है तो वह कहता है कि हाथी रस्से जैसा लम्बा होता है। और चौथा अन्धा जिसके हाथ मे हाथी की सूँड आती है, वह कहता है कि हाथी तो अजगर जैसा होता है।

जिसके हाथ मे जो लगा, उसने हाथी को उसी रूप मे देखा। महावीर कहते है कि ये सभी सत्य कहते हैं, पर इनका सत्य पूर्ण नहीं है, क्योकि इनके पास ऑखें नहीं हैं। आदमी के पास आँखे नहीं है, सत्य को देखने की। विशाल और व्यापक दृष्टि नहीं है, इसीलिए किसी के लिए हाथी रस्से जैसा होता है तो किसी के लिए अजगर जैसा और किसी के लिए पेड़ जैसा। जिसके पास ऑख नहीं होती, उसके लिए स्वय का सत्य ही मात्र सत्य होता है। कितना अच्छा हो, सभी सत्य के जानकारों को एक साथ बैठा दिया जाए। तब वह निष्कर्ष आएगा कि हॉ हाथी वह है जिसके पेड़ के जैसे चार पॉव होते है, जिसके रस्सी की तरह पूॅछ

होती है, जिसके अजगर की तरह सूँड होती है और जिसके पंखी की तरह दो कान होते है। हाथी मे ये सभी गुण समाए हुए हैं। यह तो देखने वाले की नजर पर निर्भर है कि वह क्या देखता है ! यदि तुम्हारी आँखों में कदाग्रह और असत्य की किरकिरी गिरी है, तो वह सत्य भी असत्य ही नजर आएगा।

इसलिए मैं कहता हूँ कि हर धर्म को पढ़ो, हर धर्म को जानो, दुनिया के हर महान् व्यक्ति से मिलो। सबमें कुछ न कुछ अच्छाई छिपी है। हम तो वहाँ भी चले जाते है, जिन्हें लोग जेल कहते है। वहॉ के कैदियो की आवभगत देखते ही बनती है क्योंकि उन्हे अपने अपराधों का बोध हो गया है और अब उन्हे मुक्ति की तलाश है। हम किस नजर के साथ कहॉ जा रहे हैं, मिल रहे हैं, बरताव करते हैं, मूल्य इसी बात का है।

जीवन का तीसरा अमृतसूत्र है—'सही जानें, सुन्दर जानें।' जानना जरूरी है, ज्ञान जीवन का प्रकाश है, अज्ञान को भस्मीभूत करने की चिनगारी है, आधारस्तम्भ और अग्निशिखा है। जानो ऐसा जिससे हमे अपने अज्ञान का बोध हो सके। हम जो पढ़ाई कर रहे हैं, जिस ज्ञान को प्राप्त कर रहे है, उसका उद्देश्य हमें शिक्षित बनाना है। मै जिस ज्ञान की बात करता हूँ, वह हमें हमारे अन्तरहृदय में छिपे अज्ञान का बोध कराता है। हम लोग, जो आपको संबोधित कर रहे हैं, ऐसा पागलपन कभी नहीं करेगे कि आपको ज्ञान दें। अगर हमने दुनिया को ज्ञान देना शुरू कर दिया तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। फिर तो लोग हमको ज्ञान देना शुरू कर देंगे। हमारे सम्बोधन का ध्येय अन्तरमन पर हावी अज्ञान के आवरणों को हटाना है।

अगर इन्सान को अपने अज्ञान का बोध हो जाए तो वह शायद क्रोध या कषाय नहीं कर पाएगा। व्यक्ति क्रोध इसलिए करता है, क्योंकि उसे क्रोध से होने वाली वास्तविक हानियों का बोध नहीं है। वह गुटखा, शराब या अन्य किसी व्यसन से इसलिए ग्रसित होता है, क्योंकि अभी तक उसे उनके परिणामो का वास्तविक रूप से ज्ञान नहीं हो पाया है। दुनिया के कथित शिक्षित और प्रबुद्ध लोगों की हालत तो और भी अधिक दयनीय है। वे दया के पात्र हैं। लोग नारकीय बुद्धुओं के बारे में सोचते होंगे, पर दुनिया में तो बने बनाए बुद्धु भी बहुत हैं। रोज विज्ञापन पर लिखी चेतावनी देखेंगे, पढ़ेंगे—'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।' फिर भी पिये जा रहे है। अब कैसे इन्सान को बोध कराया जाए, कैसे उसे निष्कर्षों से

अवगत कराया जाए? जो डॉक्टर अपनी ओर से निष्कर्ष निकाल रहे है, वे भी पी रहे है।

गत वर्ष की बात है। मै और अन्य कई महानुभाव कहीं एकत्र थे। एक डॉक्टर केन्सरग्रस्त महिला का केस देख रहा था। उस महिला के सिर के सभी बाल झड चुके थे, केस काफी बिगड़ गया था। उसके ऑक्सीजन चढाई जा रही थी। डॉक्टर केस की जटिलता को देखकर परेशान हो रहा था। उसे कुछ नहीं सूझा तो वह बाहर आया और उसने पाउच फाड़ा, मुँह मे डाला और फिर भीतर चला गया तथा नब्ज को देखने लगा। इन पढ़े-लिखे लोगो को कैसे समझाया जाए ? कैसे अहसास कराया जाए कि इनके कहने का इनकी करनी से कहीं तालमेल नहीं है। ये ज्ञानी नहीं, अज्ञानी है। 'सही जानो और सुन्दर जानो' का सूत्र इसलिए है कि भले ही हम थोड़ा-सा ही ज्ञान प्राप्त करें, लेकिन वह ज्ञान ऐसा हो जो हमारे जीवन में घटित हो जाए, आत्मसात् हो जाए।

हम कभी अकेले में बैठकर मनन करें कि हमारे जीवन में और प्राप्त किए गए ज्ञान में कहाँ-कितना विरोधाभास है। हम अपने को पढ़ें। जगत को पढें।

जगत को पढ़ना जगत के किसी व्यक्ति की आत्मकथा को पढ़ने से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। किसी टॉलस्टॉय की जीवनी को पढ़ने से अधिक बेहतर है कि व्यक्ति प्रत्यक्ष जगत को और स्वयं को पढ़े। उससे कुछ सीखे और जाने। शायद किसी गॉधी को पढ़ने से व्यक्ति का जीवन बदले या न् बदले, पर यदि व्यक्ति स्वय को और जगत को तत्त्वतः पढ़ने का प्रयत्न करेगा तो फिर-फिर किसी बुद्ध या महावीर का जन्म होगा।

हमारे आगे से भी गुजरता है कोई वृध्द, कोई प्रसूतिग्रस्त महिला, कोई अर्थी, पर हम जीने का कितना अर्थ समझ पाते हैं किसी अर्थी को देखकर? पोता जिस दादा को सबसे ज्यादा प्यार करता था, उसे अपने हाथो से जला आता है, फिर भी उसमे परिवर्तन नहीं आता। इन्सान की मूर्खता तो देखो कि वह किसी व्यक्ति की मृत्यु पर त्यागने के नाम पर धर्मस्थलो पर जाना छोड़ता है, लेकिन श्मशान-स्थल पर ही समोसे और चाय के मजा उठाता है। जिस किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर हमारे जीवन मे नई-नई प्रेरणाएँ जगनी चाहिए थीं, हमारे लिए धर्म के द्वार खुलने चाहिए थे, मगर ऐसा नहीं हुआ। फिर हमने जीवन से सीखा ही क्या? किसी की मृत्यु भी हमारे जीवन को नहीं बदल पाई, वह मृत्यु भी हमार

लिए व्यर्थ गई। यदि किसी व्यक्ति को उसकी ऑखो के सामने अन्य किसी पर घटित मृत्यु और अंत्येष्टि बदल नही पाई, तो मै नही समझता कि उसे, सबको जगाने वाला राम भी जगा पाएगा।

हमने जलती हुई काया को देखा, जिस शरीर के प्रति अत्यन्त आसक्त बने हुए थे, उस शरीर को मिट्टी होते देखा, फिर भी हम मूर्च्छित बने हुए हैं। आजकल तो श्मशान मे उन दो घंटो के 'टाइम पास' के लिए ताश खेली जाती है, चाय-समोसे खाए-खिलाए जाते है। आदमी कहने को बहुत ज्ञानी है, पर वह आज भी अपने अज्ञान को नहीं समझ पाया है। व्यक्ति के जीवन की वास्तविक शुरुआत तब होगी, जब उसे अपने अज्ञान का बोध होगा।

चौथा और अन्तिम सूत्र जो मैं देना चाहूँगा, वह है—'सही करें, सुन्दर करें'। हर कृत्य सुन्दर हो। जब सृष्टि इतनी सुन्दर है, तो फिर हमारे कृत्य असुन्दर क्यों हों ! यद्यपि मैं आपके किसी कार्य या कर्त्तव्य का यह न्याय नहीं दे सकता कि यह सही है अथवा गलत, क्योकि आप जो भी कर रहे है, उसे आप सही समझ कर ही कर रहे हैं। आप तम्बाकू खाते हैं, तो उसे अच्छा समझ कर ही खा रहे हैं। मै कौन होता हूँ उसे छुड़ाने वाला ? पैसे आपके बर्बाद हो रहे हैं, शरीर आपका विकृत हो रहा है। पर अगर सही और सुंदर करोगे तो मुझे खुशी होगी, समाज आप पर गौरवान्वित होगा। आपके सुन्दर दाँत देखकर केवल आपकी पत्नी ही प्रसन्न नहीं होगी। हर किसी को आपके मोती जैसे दॉत सुहाएँगे। आपके गंदे/काले दाँतों को देखकर केवल औरों को ही नफरत नहीं होगी। तुम्हारी पत्नी भी तुम्हें नापसंद करेगी। शायद यह उसकी मजबूरी या महानता होगी कि वह हमें इसके बावजूद निभा रही है।

हम किसी भी कार्य को करने से पहले यह अवश्य सोच लें कि यह करणीय है या अकरणीय; इस कार्य को करने से मंगल होगा या अमंगल होगा। यदि किसी कार्य को करने से अन्य किसी का अहित होता है तो वह कार्य चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसे मत करो। जिस प्रकार रुग्ण हो जाने पर हम मल-मूत्र या रक्त की जाँच कराते हैं, उसी प्रकार हम अपने हर कार्य की, हर कर्म और क्रिया की उसके करने से पहले टेस्टिंग कर लें। इसे मनोवैज्ञानिक भाषा में 'ममा टेस्टिंग' कहा जाता है। इस टेस्टिंग में व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पहले यह सोचता है कि मैं यह जो कार्य कर रहा हूँ, उसे यदि मेरी मॉ देखती तो वह

गौरव महसूस करती या शर्म अनुभव करती। यदि आपकी अन्तरात्मा यह कहती है कि यह कार्य देखकर आपकी मॉ को आप पर गर्व होता तो अवश्य ही उस कार्य को करे और यदि आपकी अन्तरात्मा को यह लगता है कि उस कार्य को करने से आपकी मॉ को शर्मिन्दा होना पडेगा तो उस कार्य को हरगिज न करे।

जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिए स्वच्छ रक्त जरूरी है, उसी प्रकार स्वस्थ जीवन के लिए स्वस्थ क्रिया का होना भी जरूरी है। इसलिए स्वच्छ क्रिया के लिए ममा टेस्टिग से गुजर जाएँ और यदि यह नही कर सकते तो एक टेस्टिग और है, जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा मे 'बाबा टेस्टिग' कहते है। इसमे व्यक्ति किसी भी कार्य को करते समय यह दृष्टि रखता है, यह सोचता है कि जो कार्य मै कर रहा हूॅ, क्या मै चाहता हूॅ कि मेरी आने वाली पीढ़ी भी उस कार्य को करे? अगर आपकी अन्तरात्मा कह दे कि 'हॉ', यही उस सन्देश की प्रेरणाएँ हैं जिन्हे मै अपनी आने वाली पीढ़ी को देना चाहता हूॅ तो उस कार्य को आप अवश्य करे। अगर आपकी अन्तरात्मा कहती है कि यह कार्य, यह सस्कार हमारे बच्चो मे नही होने चाहिए तो वह कार्य नहीं करे क्योकि आपके सस्कार आपकी आनुवशिकता से आपके बच्चो में स्थानान्तरित हो रहे है। अगर भावी पीढ़ी को स्वर्णिम या उज्ज्वल भविष्य और सस्कारित जीवन देना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि पहले स्वय बाबा टेस्टिंग और ममा टेस्टिग से गुजर जाएँ।

सहीं साचें और सुन्दरी सोचें, सही देखें और सुन्दर देखें, सही जानें और सुन्दर जानें, सही करें और सुन्दर करें—यह जीवन को अमृतमय बनाने के ये चार चरण, चार सूत्र हैं। मैंने पहले ही कहा है कि जीवन गणित और विज्ञान जैसा है। केवल सुनने मात्र से पानी कभी गर्म नही होगा, गुनगुने पानी से कभी भाप नहीं बना करती। पानी तो भाप तब ही बनता है जब उसके नीचे आग होगी। जैसे दो या दो चार ही होते हैं, जब जीवन के गणित का ऐसा ही फार्मूला स्वय पर लागू करोगे तो आपका और हमारा सभी का जीवन मगलमय, आनन्दमय, स्वस्तिकर और सुखकर होगा। जीवन विज्ञान है, गणित है। जिस प्रकार दो और दो चार होते हैं, उसी प्रकार दिव्य जीवन के लिए चार फार्मूले चार चरण आपको दिए हैं। ऐसा ही दिव्य जीवन-दर्शन सबको प्राप्त हो। अपनी ओर से यही मंगल कामना है।

❑

कायोत्सर्ग और मृत्यु का रहस्य

हमारा जीवन एक अनोखी तीर्थयात्रा है; एक ऐसी तीर्थयात्रा जिसकी शुरुआत जन्म की तलहटी से होती है और जिसकी समाप्ति मृत्यु के किसी पड़ाव पर। जन्म के साथ शुरू होने वाली यह तीर्थयात्रा मृत्यु के पड़ावों पर जाकर पूरी होती है। जीवन की यह यात्रा तब तीर्थयात्रा कहलाती है, जब किसी भी व्यक्ति की यात्रा मुक्ति की मज़िल पर जाकर पूरी होती है। जन्म और मृत्यु जीवन की तीर्थयात्रा के दो ऐसे बिन्दु हैं जहाँ एक से शुरुआत होती है और दूसरे से समापन।

कोई भी पक्षी क्यों न हो, हर पक्षी अपनी दाईं और बाईं पाँखों के सहारे ही उड़ता है। ऐसे ही जीवन जन्म और मृत्यु के दो डैनों के सहारे अपनी मंजिल पर पहुँचता है। जैसे सागर किन्हीं दो किनारों से बँधा रहता है, ऐसे ही जन्म और मृत्यु के दो पाटों के बीच जीवन चलता है। जिस दिन इन दो किनारों में से एक किनारा टूट जाता है, तो सागर भी अपनी सीमाओं को लाँघ जाता है, और उड़ता हुआ पक्षी भी जमीन पर गिर पड़ता है।

सृष्टि की किसी भी रचना को लें, उसके दो पहलू अवश्य होंगे। जीवन के भी ऐसे ही दो भाग होते हैं—एक भाग जन्म और दूसरा मृत्यु। जो व्यक्ति अपने जीवन में जन्म पा चुका है, उस व्यक्ति की अन्तिम डगर मृत्यु होती है। जन्म के साथ ही मृत्यु की यात्रा आरम्भ हो जाती है। सूर्योदय होने के साथ ही सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ता है।

ऊगै सो तो आथवै, फूलै सो कुम्हलाय।
जनमै सो निश्चय मरै, कौन अमर हो आय।।

जो फूल उगता है, वह मुरझाता जरूर है, जो सूर्य उदित होता है वह निश्चित रूप से अस्त होता है और जो जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। जन्म की दहलीज पर तो हर कोई कदम रखना चाहता है, पर जो मृत्यु से सकुचाता है वह जीवन के दृढ सत्य के विरुद्ध खडा हो रहा है। जीवन मे लाभ-हानि, नफ़ा-नुकसान सब कुछ अनिश्चित है। यदि कुछ निश्चित ही है, तो वह है— 'मृत्यु'। तुम औषधियों से समस्त रोग काट सकते हो, मगर धरती पर ऐसी कोई औषधि नहीं है जो मृत्यु को काट सके। जीवन मे सब कुछ सायोगिक है, पर मृत्यु ही एक ऐसा तत्त्व है जिसे दुर्घटना या सयोग नहीं कहा जा सकता। मृत्यु एक क्षण में ही नहीं होती अपितु वह क्षण-प्रतिक्षण व्यक्ति के साथ घटित होती रहती है। पर उसे इसका आभास नहीं होता, क्योकि वह रात को जैसे सोया था, सुबह भी स्वयं को वैसा ही पाता है। यदि कुछ ऐसा हो कि रात को सोते समय जवान हो और सुबह उठे तो वह स्वय को बूढ़ा पाए तो उसे जीवन की परिवर्तनशीलता तथा क्षणभगुरता का अहसास हो सकता है। लेकिन यहाँ तो मौत इतनी धीमी गति से आती है कि उसकी पदचाप भी नहीं सुनाई देती।

कोई व्यक्ति जब जन्म लेता है तो पहली घटना, पहला कार्य होता है श्वास का लेना और जब कोई व्यक्ति मृत्यु को उपलब्ध होता है तो उसका अन्तिम कार्य होता है, साँस का छूटना। मृत्यु और कुछ नहीं बल्कि व्यक्ति का श्वासो के घेरे से बाहर निकल जाना है। अगर कोई व्यक्ति अपनी नासिका पर ध्यान केन्द्रित करे तो पाएगा कि प्रतिक्षण साँस आ-जा रही है यानी जीवन के साथ प्रतिक्षण जन्म और मृत्यु घटित हो रही है। जीवन इसलिए है कि आती और जाती हुई इन साँसों के बीच एक तारतम्य, एक सातत्य बना है। जिस दिन साँस छूटी, जिसके बाद दुबारा साँस नहीं लौटी तो उसी का नाम ही मृत्यु है। हर व्यक्ति मृत्यु की कतार में खड़ा है। तुम यह तो कह सकते हो कि अमुक बच्चा आठवें महीने मे होगा या नवे महीने में; पर दुनिया मे ऐसी कोई तिथि, संवत् या तारीख निश्चित नहीं है जो मृत्यु को बता सके। तुम किसी कार्य को करने के लिए सोच सकते हो कि यह शुभ कार्य है, इसलिए सोमवार को किया जाना चाहिए, शनिवार को नहीं; पर मृत्यु तो एक ऐसी घटना है जो न तो शनिवार देखती है और न सोमवार। मृत्यु

तो अमावस्या को भी आ जाया करती है तो पूर्णिमा को भी। जन्म की तारीख हो सकती है, पर मृत्यु की नहीं होती।

यह व्यक्ति की नासमझी है, मूढ़ता है कि वह यह सोचता है कि अमुक काम आज किया जाए या अमुक काम कल किया जाए। लोग कहते है कि मंगल और शनिवार कड़क वार हैं और सोम, बुध, शुक्र, रवि अच्छे वार होते है, पर क्या मृत्यु सोम या शुक्रवार को नहीं आती? मृत्यु तो कभी भी, किसी भी क्षण, किसी के द्वार पर आ सकती है। यह तो व्यक्ति का अहं और उसकी मिथ्या मान्यता है जो वह सैकड़ों इन्तजाम करता है। हम तो प्रकृति द्वारा संचालित वे कठपुतलियॉं हैं, जिन्हें न जाने कब वह नृत्य करते-करते उठा ले या गिरा दे। जो सावधानी से चल रहा है यह सोचकर कि किसी कार से न टकरा जाए, उसकी मृत्यु न हो जाए; किन्तु उसके आगे पत्थर का एक टुकड़ा आया, ठोकर लगी और वह गिर गया। मृत्यु के तरह-तरह के रूप हैं, क्या पता वह कब, किसके द्वार पर आ जाए। इसलिए जिन्दगी में किसी से बेखबर और निश्चिंत रहना चाहते हो तो वह एकमात्र मृत्यु ही है, क्योकि मृत्यु से बचने के लिए किए गए हजारो उपाय धरे रह जाएँगे। जिसको बचाने वाला सांई है, उसे कोई मार नही सकता और जिसकी मृत्यु निश्चित है, उसे हजारों उपायों से भी नहीं बचाया जा सकता।

मृत्यु की 'क्यू' मे हर कोई खड़ा है, पर मृत्यु कभी आप या मुझको नहीं मार सकती। मृत्यु का वश मात्र हमारी काया पर ही चला है, मृत्यु मात्र देह की ही होती है। हम उस संस्कृति व धर्म के सन्देशवाहक हैं, जो कहती है—'नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः'।

हमारी आत्मा वह है जो शस्त्रो से छेदी नहीं जा सकती, जिसे हजारों बार चिता पर जलाने पर भी नहीं जलती। वह तो काया थी जो जली, जिस पर मृत्यु घटित हुई। मृत्यु और कुछ नहीं, एक स्वप्न के टूट जाने का नाम है। आपके प्राण और शरीर के बीच जो संयोग है, उसके टूट जाने का नाम ही मृत्यु है।

मैं खड़ा था किसी के घर, जहाँ किसी स्नेही महानुभाव की मृत्यु हो गयी थी। मुझे देखकर परिवार के लोग सुबक-सुबक कर रोने लगे और कहने लगे—'प्रभु! आपका शिष्य नहीं रहा, मर गया है।' मैंने संकेत दिया, 'जिसे तुम मरा हुआ मानते हो, वह तो कल भी मरा हुआ था और जिसे तुम कल जीवित समझते थे,

वह आज भी जीवित है।' जिसके पास देखने को ऑखे नही होतीं, उसके लिए ही जन्म-मृत्यु है। जिसकी अन्तर्दृष्टि खुल गई, उसके लिए न कोई जन्म है और न ही कोई मृत्यु है। तुम्हे किसी की मृत्यु इसलिए मृत्यु दिख रही है, क्योकि तुम उस तत्त्व को नहीं देख पा रहे हो, जिसे जीवन कहते हैं। हम सब लोग तो पृथ्वी प आए वे यात्री हैं, जो यहाँ कुछ देर के लिए आते हैं, विश्राम करते है, प्रमोद हैं और एक दिन विदा हो जाते है।

आजादी के बाद की बहुत प्रसिद्ध घटना रही 'महात्मा गॉधी की मृत्यु'। सभी लोग जानते है कि महात्मा गॉधी की मृत्यु गोडसे की गोलियो से हुई थी और बाद मे वह पकड़ा गया था। यह घटना उचित थी या अनुचित, यह अलग बात है, पर इस घटना के भीतर जीवन और मृत्यु का गहन रहस्य छिपा हुआ है। गोडसे जब पकड़ा गया तो गॉधी का पुत्र नही चाहता था कि उसके जिस पिता ने जीवन भर अहिसा की उपासना की, उसके हत्यारे को फॉसी की सजा दी जाए। इसलिए गॉधी के पुत्र ने गोडसे से कहा कि 'तुम कल जब कोर्ट मे जाओ तो बस इतना ही कह देना कि यह मुझसे भूल से हुआ और मै इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। आगे की सारी बात मैं सँभाल लूँगा और तुम्हारी फॉसी की सजा को माफ करा दूँगा।' तब गोडसे ने कहा—'मुझे नहीं लगता तू गॉधी का बेटा है, क्योकि गॉधी की कभी मृत्यु नहीं हो सकती। मृत्यु गॉधी के शरीर की हुई है। गॉधी कल भी जीवित थे और आज भी जीवित हैं। जो मर जाता है वह मुसलमान होता है और जो मर कर भी जीवित रहता है उसे ही हिन्दू कहते हैं। जो काया हमे अनुचित लगी, हमने उसे गिरा दिया। जो मरा, वह गॉधी का शरीर था, गॉधी की आत्मा अमर है। गॉधी को मारने की ताकत तो किसी मे नहीं है।' हिन्दुत्व की अपनी यही तो अस्मिता है कि जो कभी न मरे। क्या हम अपने उस जीवन पर गौर करगे जो मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है?

हम केवल अपनी काया पर ही ध्यान देते हैं। शरीर के बूढे होने पर यही कहते हैं कि जीवन बूढा हो गया। पर जीवन कभी बूढा नहीं होता बल्कि शरीर बूढ़ा होता है। मृत्यु हमेशा शरीर की होती है। आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती। अगर व्यक्ति अपने जीवन मे विद्यमान तत्त्व के प्रति गहरे उतरने की कोशिश करे तो वह किसी की भी मृत्यु पर न तो रोएगा और न ही किसी के जन्म पर थाली ही बजाएगा। हिन्दुस्तान के कुछ ऐसे हिस्से है, जहाँ व्यक्ति की मृत्यु के बाद लोग

रोते नहीं है। हमारा मद्रास में चातुर्मासिक प्रवास था। हमने देखा कि वहाँ यदि किसी तमिल की मृत्यु हो जाती है तो लोग उस शव-यात्रा के आगे गाते-बजाते और नृत्य करते हुए चलते हैं। वे मानते हैं कि इसकी काया गिर गई, यह ईश्वर को प्यारा हो गया। किसी के ईश्वर को प्यारा हो जाने पर हमारे द्वारा आँसू बहाने का अर्थ यह है कि हमने जीवन के सत्य को समझा ही नहीं है। क्योंकि हमने काया के जन्म को ही जन्म और काया के समापन को ही मृत्यु समझा है।

हम मृत्यु के रहस्य को समझें। मृत्यु बार-बार हमारे द्वार पर आती है और आकर शरीर को मारने के बावजूद खाली हाथ लौट जाती है। ययाति के द्वार पर तो मृत्यु दस-दस बार आई और दसवीं बार उसको मृत्यु से बचाने के लिए उसके जिस अन्तिम पुत्र ने अपने प्राणों का बलिदान किया, वह पुत्र मृत्यु के पूर्व ययाति के सामने आकर बोला—'पिताजी, शायद आपको पता नहीं कि हर बार आपको मृत्यु से बचाकर, सौ वर्ष प्रदान करने के लिए अपने प्राणों का किसने उत्सर्ग किया है? वह पुत्र मै ही हूँ जो आपको सौ वर्ष का आयुष्य प्रदान करने के लिए नौ वार मर चुका हूँ। पर इस बार मरने से पहले मेरे मन में एक प्रश्न उठ रहा है कि क्या आप हजार वर्ष का जीवन जीने के बाद तृप्त हो पाए हैं?' ययाति ने कहा—'पुत्र ! तुमसे क्या रहस्य छिपाऊँ, आज भी मेरी इच्छाएँ अधूरी हैं; मेरे स्वप्न और कल्पनाएँ अपूर्ण है।' ....तब ययाति के पुत्र ने कहा—'पिताजी ! जब मैं इससे पूर्व नौ बार मरा तो मेरे मन में एक टीस थी कि मै जीवन को नहीं जी पाया, अपनी इच्छाएँ पूर्ण नहीं कर पाया, पर आज मैं बड़े प्रेम से मृत्यु की ओर कदम बढ़ा रहा हूँ, क्योंकि आज मुझे इस बात का आत्मबोध/आत्मज्ञान हो गया है कि जो ययाति हजार वर्ष का जीवन जीने के बाद भी तृप्त नहीं हुए तो उनका पुत्र सौ वर्ष के जीवन में क्या तृप्त हो जाएगा ?'

ज़रा सोचिए, हजार-हजार रानियों के उपभोग के वाद, हर सौवें वर्ष नये-नये राजमहल खड़े करने के बावजूद सम्पूर्ण पृथ्वी का उपभोग करने के बाद भी उसके आधिपत्य के बावजूद ययाति अतृप्त रहे, तो क्या हम तृप्त हो पाएँगे ?

हम आज भी जब अपने अस्सी नब्बे वर्ष के दादा जी को देखते हैं तो पाते हैं कि उनकी उन्हीं क्रियाओं से आसक्ति जुड़ी हुई है, जो उनके बचपन से सम्बन्धित है। जब वे अस्सी या नब्बे वर्ष के जीवन से भी तृप्त नहीं हो पाए तो क्या हम तृप्त हो पाएँगे ? खा-खाकर हमने कितना गोबर कर दिया, पी-पीकर

हमने कितने कुएँ खाली कर दिए, भोग-भोगकर हमने स्वय के शरीर को कृशकाय कर दिया, पर क्या कोई इन सबसे तृप्त हो पाया ?

जीवन के रहस्य मे किसी ने भी उतरने की कोशिश ही नहीं की। हमने देह को ही जीवन का सारा आधार मान लिया है। सुबह से लेकर रात तक खाने के दौर चल रहे है। कोई रोटी खा रहा है तो कोई गुटखा चबा रहा है। कोई कोकाकोला पी रहा है, तो कोई ब्रांडी पी रहा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक खाने-पीने की प्रवृत्ति चलती रहती है। मेरी माँ बताया करती थी कि जब हम बच्चे थे तो रात को सोने के बाद सुबह उठते ही खाने को माँगते थे तो माँ कहती थी कि 'तुम्हें रात को भर पेट खिलाती हूँ पर सुबह उठते ही खाने की माँग शुरू हो जाती है। ....क्या केवल खाना, पीना और कमाना भर ही जीवन है ?' पहले कहते थे कि ब्राह्मण लोग भोजन की आस मे चार कोस पहुँच जाते है पर आज तो हम ब्राह्मणों को भी पीछे छोड़ देते है।

आहार, निद्रा, संग्रह, मैथुन--इन्हीं में घिरे हैं हम सब। शरीर हमें भोग रहा है और हम शरीर को। शरीर ही हमें जीवन का अथ और इति नजर आता है। भोग-भोगकर भी हर बार यही लगता है कि और भोगा जाए। हर भोग, हर क्रोध नये क्रोध के बीज बो जाता है। हर प्रशंसा अहं को पोषित कर देती है। हर टीका-टिप्पणी वैर के काँटे बिछा जाती है। तृप्ति के हर गमले में अतृप्ति के कैक्टस उग आते हैं। लगता यही है कि आज बड़ा सुख मिला, सुकून मिला, पर पता नहीं चलता सुख कब दुःख की काली छाया से घिर जाता है।

इसीलिए तो संबुद्ध लोगों ने जाना कि संसार में सर्वत्र दुःख है। दुःख हर किसी के साथ उसकी छाया की तरह लगा है। जीने की दृष्टि न होने के कारण छोटे-छोटे निमित्त भी हमें प्रभावित और आन्दोलित कर देते हैं। कभी औरों के निमित्तों से प्रभावित हो जाते हैं तो कभी स्वयं के ही विचारों और संस्कारों से। कभी शरीर के धर्म मन पर हावी हो जाते हैं, तो कभी मन के पुद्गल शरीर पर। बडा जबरदस्त प्रभावी होता है भीतर का यह अंधा प्रवाह। बह ही जाता है व्यक्ति इस अंधे प्रवाह में। नहीं चाहता कि ऐसा हो, फिर भी हो जाता है। अविद्या हावी है, मिथ्यात्व सघन है, माया का तिलिस्म गहरा है। इनके आगे हम अपने आपको ऐसा विवश और कमजोर पाते हैं मानो आकाश से तो गिर गए हों और धरती थाम न रही हो।

व्यक्ति अपनी सजगता बढ़ाए। थोड़ा मनन करे, थोड़ा ध्यान धरे। शरीर और मन के धर्मों और विधर्मों को जानने-समझने की कोशिश करे। जीवन में जो भी उदय हो, जैसे भी धर्मों का, अहसासो का, संवेदनाओं का उदय हो, हम उसके प्रति बोधजन्य दृष्टि अपनाएँ। बोध और सजगता—मानो ये हमारे दो पाँव हों, दो हाथ हों, दो आँख हों। दायीं आँख हो बोध की और बायीं आँख हो सजगता की। ज्यों-ज्यों बोध गहरा होगा, देहासक्ति और चित्त-संस्कारों का प्रभाव शिथिल होगा। तब मृत्यु दूर होगी और अमृत हमारे साथ होगा।

ऐसी अवस्था पाने के लिए हम श्वास के प्रति सजग हों, देह-धर्मों के प्रति सजग हों, चित्त के संस्कार और संवेगों के प्रति सजग हों। उनके परिणामों के प्रति बोधपूर्ण हों। मुक्त होने का लक्ष्य साथ हो।

पहला चरण है—श्वासदर्शन। साँस ही जीवन की देहरी का वह दीप है जिसका प्रकाश अन्दर भी पड़ता है और बाहर भी जाता है। एकमात्र साँस ही तो वह सूक्ष्म तत्त्व है जिसका अनुभव हम उसके अरूपी होने पर भी कर सकते है। अब तक आपने इन्द्रिय संयम, आहार-संयम या काय-संयम की बातें सुनी हैं, पर श्वास-संयम की बात प्रथम है। श्वास-संयम स्वतः देह और मन दोनों के संयम को साध लेता है। श्वास-संयम जीवन का एक बहुत बड़ा विज्ञान है। श्वास ही हमारे जीवन का आधार है जो हमे चैतन्य करता है।

व्यक्ति की साँसो का सम्बन्ध उसके चित्त के साथ होता है। जैसी चित्त की स्थिति, वैसी ही श्वास की गति। अगर किसी व्यक्ति को कहा जाए कि तुम्हे क्रोध करने की छूट है, पर श्वासो की गति मन्द रखो तो शायद यह सम्भव नहीं होगा। आपने कभी देखा होगा कि कुत्ता कितनी तेजी से श्वास लेता है। एक रुग्ण व्यक्ति एक मिनट मे सताह से चौबीस साँस लेता है और स्वस्थ व्यक्ति एक मिनट में तेरह से चौदह साँस लेता है, जबकि एक कुत्ता एक मिनट मे बत्तीस से पैंतीस साँस लेता है। एक व्यक्ति की श्वास की गति जितनी तेज होती है, वह उतना ही अधिक उत्तेजनाशील होता है। कुत्ता खड़े-खड़े ही भौंकने लग जाता है, चलती कार के पीछे दौड़ पड़ता है। जितनी तेज साँस, जीवन उतना ही कम होता है। योगशास्त्र कहता है कि अगर श्वास-सयम साध लिया जाय तो दीर्घ जीवन का रहस्य स्वयं ही समझ जाओगे।

जब भी आप क्रोध या किसी काम-वासना से घिरे रहते है, तो आप पाएँगे कि आपकी श्वास भी असतुलित हो चली है। उस समय आपके श्वासो की गति किसी जानवर या कुत्ते की सॉसो के समान तेज हो जाती है। आपको वासना के द्वार पर जाने की छूट है, पर शर्त एक ही है कि श्वास की गति मन्द हो, क्रोध भी आप बडे प्यार से करे पर श्वासो की गति धीरे हो। मंद और दीर्घ श्वास शांत जीवन के लिए अमोघ मंत्र है। जो मद श्वासोच्छ्वास का स्वामी है, वह मंद कषाय का व्यक्ति है। तीव्र कषाय तीव्र श्वास का प्रेरक है। कषाय-विजय के लिए श्वास पर विजय पाएँ। श्वास पर, प्रत्येक श्वास पर, श्वास के हर अन्तराल पर आत्मा की, शान्ति की, मुस्कान की आभा हो, प्रेरणा हो, सजगता हो। हमे कितना ही तेज क्रोध क्यों न आ रहा हो, हमारे क्रोध और काम को शान्त करने का सरलतम उपाय है कि हम अपने श्वास को, एकान्त मे ले जाकर एक मिनट के लिए नियन्त्रित कर लें। एक मिनट में मात्र तीन या चार साँस ही ले। आप पाएँगे कि ये चुनिदा सॉसें हमारे चित्त को शात कर देंगी। यह श्वास का विज्ञान है। जब भी आप एकान्त मे बैठें तो अपनी पलकों को मूँदकर अपनी श्वास की गति पर ध्यान केन्द्रित करें और यह कोशिश करें कि आपकी श्वासो की गति मन्द हो। यदि श्वासो की गति मन्द हुई, तो आप स्वय के चित्त को भी शान्त व प्रसन्न रख पाएँगे। सार रूप में बात समझ ले कि सॉस हो शांत और मंद। और हर सॉसोश्वास के प्रति हो बोध-दृष्टि।

श्वास से अलग होकर श्वास को देखना ही ध्यान का प्रथम चरण है। श्वास के साक्षी बनकर ही चित्त को एकाग्र किया जा सकता है।

दूसरा चरण है देह-दर्शन। शरीर को देखा जाए। भले ही शरीर मिट्टी का है, मिट्टी से बना है, मिट्टी में मिलना है। पर मिट्टी अभी हमें मिट्टी रूप मे नजर नहीं आ रही है। तुम मिट्टी के बदले हुए स्वरूप को भलीभाँति देखो। यह चमडी है, वह हड्डी है, मॉस है, हड्डी में मज्जा है, ये नाड़ियाँ हैं, नाड़ियों में रक्त-प्रवाह है। और इन सबके साथ प्रवाहित है मूर्च्छा का प्रवाह। हम देखें कि देह-भिन्न होते हुए भी इतनी हावी क्यों है, आखिर क्या है यह शरीर, जिसको हम अस्सी-नब्बे वर्ष तक जीते है, जिसके प्रति हम इतने आसक्त हैं कि यदि चेहरे पर एक दाग भी लग जाए तो न जाने कितने-कितने साबुनो से उसे धोते है। आपने कभी

ध्यान दिया कि यह शरीर क्या है? यह शरीर दो विधर्मी कीटाणुओ के मिलने से, पुरुष और प्रकृति के साहचर्य से निर्मित रचनामात्र है। यही सृष्टि की व्यवस्था है।

जब 'चन्द्रप्रभ' बैठकर यह सोचा करता है कि आखिर क्या है यह शरीर? और कितने विचित्र हैं शरीर के गुणधर्म ! तो उसके कदम बढ़ जाते हैं किसी मेडिकल कॉलेज के चीरफाड़ कक्ष की ओर। देखता है उन शवों को कि आखिर क्या है इस काया मे, जिसके प्रति हम इतने आसक्त और मूर्च्छित हैं। मेडिकल कॉलेज के जल से भरे हौज में तैरते शवों मे से किसी एक शव को निकलवाता है और देखता है 'आखिर क्या है यह शरीर ?' उस शव की चीर-फाड़ करवाता है, शरीर का एक-एक हिस्सा काटा जाता है। आँतें, नाड़ियाँ, माँस, रुधिर, अस्थि, मज्जा, वीर्य सबको एक-एक करके देखता है तो सोचता है कि इस शरीर के प्रति हम मूर्च्छित क्यों बने हुए हैं ? जब हम सड़क पर किसी मरी हुई गाय को कुत्तों या गिद्धों के द्वारा नोचते हुए देखते हैं, तो उसके शरीर का एक टुकड़ा इधर और एक उधर बिखरा रहता है। कहीं गर्भाशय की थैली पड़ी है तो कहीं शरीर का दूसरा हिस्सा पड़ा रहता है। उन सबको देखकर ऐसा लगता है कि यह सब हमारे साथ भी घटित हो सकता है, क्योंकि शरीर के जो धर्म इस मृत शरीर के थे, वे सभी धर्म हमारी इस देह के भी तो हैं। हमारे शरीर का ढाँचा तो उस बिजूके की तरह है जो खेत में पक्षियो को डराने के लिए बनाया जाता है। एक मात्र प्राण-तत्त्व ही तो हमें उस बिजूके से विशिष्टता प्रदान करता है, जिसके चलते हम जीवित हैं और निकल जाने के बाद शरीर मृत हो जाता है।

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि यदि कोई व्यक्ति किसी भोज में जाए तो उसे मात्र सफेद चीजें ही खानी चाहिए। मैंने पूछा कि आखिर सफेद चीजों में ऐसी क्या खासियत है? उसने कहा, सफेद चीजें कभी नुकसान नहीं करतीं। रसगुल्ला, वादाम की बर्फी, चावल, दही बड़े सभी सफेद ही होते हैं।... आप वहुत स्वाद लेकर खाएँ, लेकिन मेरे एक निवेदन को भी स्वीकार करें। सुवह जव आप शौचालय जाएँ तो एक वार उस अशुचि पर भी ध्यान दें। जिस रसगुल्ले को कल आपने वेहोशी में खाया था, आज उससे वने मल को भी वेहोशी में ही विसर्जित न कर दें। उस मल पर भी ध्यान दें कि यह उसी रसगुल्ले का पचा हुआ परिवर्तित रूप है। यदि सूखी रोटी खाई है तो उसका भी यही परिणाम और यदि रसगुल्ला खाया तो भी उसका यही परिणाम। हम जीभ के इतने लोलुप क्यों वनते जा रहे हैं ? भोजन

तो शरीर के लिए ईंधन भर है। जो शरीर चेतना के कल्याण के लिए, ईश्वर को साकार करने के लिए आवश्यक है; उस शरीर और स्वाद के प्रति हम मूर्च्छित क्यों हो रहे हैं? मात्र शरीर को चलाने की दृष्टि से भोजन करें और शरीर में ईधन डालें।

आप अपनी पत्नी की तुलना अन्य की पत्नियो से करते रहते है। आप सोचते रहते है कि मेरी पत्नी गोरी, उसकी काली या मेरी काली और उसकी गोरी। पर ध्यान रखना कि जब यह काया चिता मे जल जाएगी तो दोनो रगो की एक ही काली राख बनेगी। चमडी तो मॉस का खोल है। यह तो बारदाना है। सब ऑखों के नजारे का खेल है। जरा सोचो, यदि एक बार यह खोल हटा दिया जाए, तो यह शरीर कैसा वीभत्स लगेगा ! कितना घृणास्पद हो जाएगा। काया के रोगों पर कभी ध्यान दिया ? यह काया तो रोगो का घर है, जिसमें हर दिन नया रोग उत्पन्न होता रहता है। तुम शरीर के इस धर्म या विधर्म को नहीं समझते इसलिए डॉक्टर के चक्कर मे पड़े रहते हो। एक रोग ठीक करवाओगे तो दूसरा निकल आएगा। जन्मना, बिगडना, मरना या सड़ना-गलना—ये ही तो शरीर के धर्म हैं। इस शरीर के संस्पर्श से हर चीज दुर्गंध मे परिणत होती है। आज तुम परफ्यूम लगाते हो, किन्तु कल वह पसीना बनकर दुर्गंध मे बदल जाता है। आखिर किस देह के प्रति मूर्च्छित हो ? यह शरीर माता-पिता या किसी स्त्री-पुरुष के शरीर मे कीटाणु मात्र था, क्या उस कीटाणु के प्रति आसक्त हो ? उस कीटाणु का बढ़ा हुआ रूप ही यह काया है और उस कीटाणु के मर जाने पर तुम ऑसू ढुलकाते हो। एक कीटाणु का जन्म और उसकी मृत्यु, तुम्हे इस प्रकार विचलित कर देती है।

अपने शरीर में उतर कर अपनी ही देह को देखो। इस शरीर मे रहने वाले रुधिर, ऑतो में जमे हुए मल-मूत्र, मुॅह मे रही लार, कानों में भरे मैल, नाक में भरे गन्दे पानी, अस्थि, मज्जा, हड्डी, वीर्य, थूक और मॉस के लोथड़ो पर हम आसक्त क्यों बनें ? तुम इस गन्दगी से भरी देह पर आसक्त हो। यही तो कायोत्सर्ग की दृष्टि कहलाती है कि जहाँ देह रहे, पर व्यक्ति देहातीत अवस्था मे जिए।

देह रहे, पर देह से रहते देहातीत।
उन ज्ञानी के चरण मे वन्दन हों अगणीत।।

उन देहातीत ज्ञानियो के भी देह होती है, पर उस देह का उन पर कोई प्रभाव नही होता, वे देहभाव मे नही जीते। वे खाना भी खाएँगे तो इस भाव मे रहते हुए कि शरीर को चलाने के लिए ईधन डाल रहे है। वे रसगुल्ला खाएँ या रोटी, दोनो को ही मात्र शरीर का ईधन समझेगे। वहाँ जीभ की लोलुपता और स्वेच्छाचारिता को कोई स्थान नही होगा। ध्यान रखें हम जब भी खाना खाएँ, पसंद-नापसंद को किनारे रख दें और जो भी थाली मे परोसा गया है, उसे बड़े प्रेमपूर्वक स्वीकार करें। यह न सोचें कि यह खाना मै खा रहा हूँ बल्कि यह सोचें कि इस भोजन का अर्पण मै स्वयं के भीतर विराजित भगवान को कर रहा हूँ। तब व्यक्ति देह होने पर भी देह-धर्मो से व्यथित नहीं होगा। जिस दिन मल-मूत्र से भरी काया के प्रति मूर्च्छा टूट जाए तो उस दिन समझना कि आज हमने मुक्ति की ओर पहला कदम बढ़ाया है। जब तक यह मूर्च्छा बनी रहेगी, हम तब तक ईश्वरवादी या आत्मवादी नहीं बन सकते।

देह, देह रहे और हम, हम। हम देह में रहें, पर देह के न हो जाएँ। हम देह के धर्मो को समझें और उसके वैसे ही साक्षी रहें जैसे सागर में उठती लहरों के हुआ करते हैं। जैसे वातावरण में हवाएँ चलती हैं, नदिया में पानी बहता है, सागर में लहरें उठती हैं, ऐसा ही देह में भी विभिन्न धर्मो का उदय होता है। जिसका उदय होता है, उसका कुछ देर के लिए तो स्वरूप रहता है, पर बोध का उपयोग करो, तो जान जाओगे कि हर उदय अन्ततः विलय में बदलता ही है। हम भलीभाँति देह के अंग-अंग को देखें। सहज बोधपूर्वक देखें। शरीर के जिन-जिन अंशों में दैहिक धर्मो का उदय दिखाई दे, हम वहाँ ठहरें। पुद्गल के गुणधर्मो को समझने के प्रति सचेष्ट रहें। यह प्रकृति का नियम है कि जिसका उदय होता है, उसका विलय भी अवश्य होता है। अतः जो भी, जैसा भी अहसास हो रहा है, वह पानी में उठता एक बुलबुला है, जमीन से उठती एक चिनगारी है। बुझ जाएगी। हम अपनी ध्यान-शक्ति से देह-धर्मो पर विजय प्राप्त करें। हम नीचे ठेठ पाँवों तक अपनी सजगता फैलाएँ और ऊपर मस्तक तक। बाहर से तो स्वयं को देखते ही हैं, भीतर से भी, बहुत धैर्यपूर्वक, थिरतापूर्वक, बोधपूर्वक देख लें। इतनी बारीकी से कि पुद्गल-परमाणुओं के सूक्ष्म संयोग तक नजर आएँ। हम ऐसी अन्तरदृष्टि के, अन्तरप्रज्ञा के, अन्तरबोध के स्वामी बनें।

हम लें एक ऐसे ही आत्म-सजग साधक का प्रसंग। कहते हैं : एक बहुत प्यारे संत हुए, जिनका नाम था बोकाजू। उनके जीवन की एक मार्मिक घटना रही।

वह घटना यह थी कि जब वे अपना उपदेश देते, तो अपने सामने एक खोपडी रखते। जिस प्रकार हमारे सामने यह 'स्थापना' रहती है, उसी प्रकार उनके सामने वह खोपड़ी रहती थी। लोगो मे यह कानाफूसी चलती रहती थी कि ये बडे अजीब सन्त हैं। भगवान की तस्वीर, मूर्ति या गुरु आदि की तस्वीर रखे तो बात ठीक है, पर ये तो खोपडी रखते हैं। जब लोग समाधान के लिए उनसे इसका कारण पूछते तो वे कहते कि यह खोपड़ी ही मेरी गुरु है। इससे ही मैंने ज्ञान प्राप्त किया है। तब लोगो ने सोचा शायद यह इनके मृत गुरु की खोपड़ी होगी। पर एक दिन सम्राट् उस संत के पीछे पड़ गया और कहने लगा कि आज तो आपको इस खोपड़ी का रहस्य बताना ही पड़ेगा।

संत के बहुत ना-नुकर करने पर भी सम्राट् अपनी जिद पर अडा रहा। अन्ततः संत बोले—'तो सुनो, एक बार मै चल रहा था। चलते-चलते मै श्मशान के करीब पहुॅच गया और मेरे पॉवो की ठोकर इस खोपड़ी को लगी। ठोकर लगते ही यह खोपड़ी कोई पचास फीट दूर जा गिरी। मै चौका। मैंने खोपड़ी को ध्यान से देखा तो मुझे लगा कि यह खोपडी किसी अन्य व्यक्ति की नही, बल्कि यह तो इसी नगर के पूर्व सम्राट् की है। उस वक्त मुझे लगा कि जब एक सम्राट् की खोपडी भी इस तरह ठोकरे खाती है तो मेरी खोपड़ी की भी क्या स्थिति होगी? सम्राट् तू इस खोपड़ी का रहस्य जानना चाहता है, तो सुन। यह खोपडी तेरे ही दादा की है। चूॅकि इस खोपड़ी को मेरे पॉवो से ठोकर लगी और इस खोपडी ने मुझे आत्मबोध दिया, इसलिए यह खोपड़ी ही मेरी गुरु हुई। इस खोपडी को देखकर ही मैने अपने आप पर ध्यान दिया।'

यह है शरीर। क्या हम शरीर के मर्म को चहचानेंगे ? यदि हॉ, तो मैं कहूॅगा कि शरीर के भीतर एक और सरोवर है जिसमें लहरें उठती रहती हैं। जो हम सबका मूल प्रेरक है, आधार है और वह है मनुष्य का चित्त। चेतन-अचेतन मन। तब तीसरा चरण आता है—'चित्तदर्शन'। चित्त-दर्शन यानी अपनी ही पलकों को मूॅदकर अपने चित्त और मन को देखना। यह मन ही तो इस दर्शन का आधार बनता है। यदि मन के 'मनके' इधर-उधर हो गए तो शरीर, वाणी—सबका तालमेल बिगड़ जाएगा। यदि मन स्वस्थ है, तो स्वत· ही सब स्वस्थ है। यह मन ही वह मूलाधार है, जहॉ जन्म-जन्मातर के संस्कार, राग-द्वेष, वैर-वैमनस्य, काम-क्रोध आदि दुष्प्रवृत्तियॉ दबी पडी है। कितनी बार हमने क्रोध किया, पर क्या

क्रोध समाप्त हो पाया ? कितनी बार दाम्पत्य-जीवन का उपयोग किया, पर क्या मन या इन्द्रियाँ तृप्त हो पायीं ? चित्त में संस्कार इस तरह भरे और दबे पड़े है कि जैसे ही खुजली उठती है, व्यक्ति फिर-फिर खुजलाने को विवश हो जाता है।

जन्म-जन्मांतर से व्यक्ति इन्हीं भावो को जीता आया है, इन्हीं संस्कारो को पोषित करता आया है। जन्म-जन्म से यही उद्वेग, उत्तेजनाएँ, आक्रोश और आशंकाएँ हमारे भीतर उठती रहती हैं। हम हर जन्म मे इन्हे पुष्ट करते आए है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो चित्त में उठने वाली हर तरग, हर उद्वेग को जीतने का प्रयत्न करता है? जितेन्द्रिय वह है जो अपने चित्त के हर भाव को जीत लेता है।

हर मन मे घाव है, हर चित्त को बुखार है। किसी को काम का तो किसी को क्रोध का बुखार है। किसी को द्वेष का है तो किसी को दौर्मनस्य का। पर बुखार हर किसी को है। शुद्धि के मांगल्य-भाव के कुनैन की हर किसी को जरूरत है। ये सफेद कपड़े सहज ही अच्छे लगते है, पर कोई अपने चित्त को देखे कि चित्त सफेद है या काला, निर्मल है या मैला। यदि कोई व्यक्ति अपने चित्त मे उतर कर देखे तो उसे पता लगेगा कि इन आकर्षक कपड़ों के भीतर मन मे कैसा कोढ़ पल रहा है। बाहर से जेंटलमेन दिखाई देने वाला व्यक्ति अपने चित्त मे तो किसी शैतान को ही, किसी बेईमान को ही पनाह दे रहा है।

जीवन और चित्त के प्रति ईमानदार हुए बिना काम नही चलेगा। सौ-सौ ईमानदारियाँ अन्ततः बेईमानी में बदल जाएँगी, पर मै जिस तत्त्व के प्रति ईमानदार होने के लिए कह रहा हूँ, जीवन का वास्तविक स्वर्ग और नरक वहीं विद्यमान है। वहीं भगवान और शैतान बैठा है। डॉक्टर के पास जाकर अपनी नाड़ियों को दिखाते हो, वह तीन नाड़ियो पर हाथ रख कर उनकी गति बताता है। पर मै आपको स्वयं के चित्त को, उसके बुखार को, उसकी उत्तेजनाओं, उसकी गति को देखने की बात कह रहा हूँ। प्रकाश की गति से भी अधिक तेज है, उस मन की गति। उस चित्त के बुखार को कोई चिकित्सक नहीं उतार सकता। उसकी चिकित्सा के लिए हमे ही डॉक्टर बनना पड़ेगा। जब हम ध्यान से अपने चित्त को देखेंगे तो पाएँगे कि यह हमारा मन कितना विकृत या पवित्र है, कितना शांत या अशांत है, कितना उत्तेजित या सौम्य है, कितना करुणाशील या कषायग्रस्त है। चित्त से अलग होकर चित्त को देखना ही चित्त से उपरत होने का राजमार्ग है।

स्व-चित्त के प्रति स्वय के सम्यक् जागरण का नाम ही ध्यान है। अपने चित्त के प्रति प्रतिपल, प्रतिक्षण जागरूक रहने वाला व्यक्ति ही धर्म या अध्यात्म को जीता है। गौर करे अपने चित्त पर जिसकी स्थिति उस कार के ड्राइवर की तरह है जो एक्सीलेटर भी दबा रहा है और ब्रेक भी लगा रहा है। या तो एक्सीलरेटर दबाओ या फिर ब्रेक लगाओ। हम त्याग का मज़ा भी लेना चाहते है और भोग का आनन्द भी। हम मुक्ति का सुख चाहते हैं, पर ससार को छोड़ना भी नहीं चाहते। हम परमात्मा को पाना चाहते है, पर भौतिकता की मूर्च्छा से अलग होना नहीं चाहते। हमें चन्दन चढाना बहुत अच्छा लगता है, पर लिपस्टिक लगाना भी उतना ही आनददायक लगता है। तब परिणाम यह निकलता है कि ऑखो मे तो मुक्ति होती है, पर पॉव वासना के दलदल मे फॅसे रहते है। ऑखो मे तो अमृत होता है, पर चाटने के लिए कीचड रह जाता है।

या तो ससार को पहले पूरी तरह जी लें या मुक्ति के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाएँ। ढुलमुल लोटा कोई काम नहीं आएगा, इसी तरह ढुलमुल व्यक्ति भी कोई काम नहीं आएगा। आप सोचो कि मुक्ति भी मिले और ससार भी न छूटे, तो यह मुमकिन नहीं। दो नावो में सवार व्यक्ति बीच मे ही गिरता है, वह कभी पार नहीं लगता।

एक साधक ने अपने मन से कहा कि 'तुम तो बड़े चंचल हो, बडे अस्थिर हो, कहीं टिकते ही नहीं।' मन ने कहा, 'साधक, मै तुझे इसलिए चचल, अपवित्र और अस्थिर दिखता हूँ, क्योकि तुमने अभी तक मुझ पर ध्यान दिया ही नही।' साधक ने कहा, 'मै समझा नहीं।' तब मन ने उससे एक कहानी कही। एक नगर मे एक चोर चोरी करता था। बहुत प्रयत्नो के बाद भी चोर पकड़ मे नही आया, तब लोगों ने कहा कि हमें एक व्यक्ति पर शक है। राजा ने कहा कि तुम्हें जिस व्यक्ति के चोर होने की आशका है, कल उसे ही कोतवाल नियुक्त कर दो। अगले दिन से चोरी होनी बन्द हो गयी, क्योकि चोर को ही कोतवाल बना दिया गया था। तुम अपने चित्त को ही अपनी देह, अपने मन के प्रति सजग कर दोगे तो चोरियॉ होनी बन्द हो जाएँगी। तब मन और चित्त शान्त हो जाएगा, उद्वेग और बैचेनी समाप्त हो जाएगी। हम चित्त के साक्षी हों, द्रष्टा/अनुद्रष्टा हों।

जब व्यक्ति देह से उपरेत होता है, श्वासो का साक्षी बनता है, चित्त का सम्यक द्रष्टा बनता है, तब उस स्वत्व का, सत्य का उदय और अनुभव साकार

होने लगता है, जो हम हैं, जिससे हम प्रेरित हैं, अनुप्राणित हैं। चित्त के शांत-सौम्य होने पर भीतर के शून्य में, ऊर्जा में, जिसका अनुभव/साक्षात्कार होता है उसी का नाम है आत्म-दर्शन, आत्म-बोध। हम इसके लिए उपयोग करें धर्मध्यान का, शुक्लध्यान का। पहले पिंडस्थ ध्यान, देह और उसके धर्मो/अंशों का ध्यान और बोध हो। फिर आत्मस्थ ध्यान--पदस्थ ध्यान और पश्चात् हो रूपातीत ध्यान, परा ध्यान, सिद्ध ध्यान।

हम श्वास-दर्शन से शुरू करें। पहले बरगद बीज में लौटे, चेतना की मर्त्य में बिखरती ऊर्जा स्व में लौट आए और फिर विराट हो जाए अमृत में, विराट में, उन्मुक्त आकाश में। हम एक ऐसे तत्त्व में प्राण-प्रतिष्ठित हो जाएँ, जो जीवन को मंदिर बना दे, जीवन को जीना किसी तीर्थयात्रा की तरह हो जाए, स्वस्ति-मुक्ति सध जाए।

❑

अनुप्रेक्षा और विपश्यना

भगवान का एक शिष्य आहारचर्या के लिए निकला। गर्मी की ऋतु थी, प्रचड गर्मी ने मुनि के पॉवो को और मन को सत्रस्त कर डाला। चलते-चलते भिक्षु ने सोचा—ऐसी कोई छायादार जगह मिल जाए कि जिसके नीचे खडे होकर गर्मी के संत्रास से बच सकूँ। तभी भिक्षु ने देखा कि किसी गृहिणी ने उससे अनुरोध किया—भते, आहारचर्या के लिए आप मेरे घर पधारें। भिक्षु उस गृहिणी के घर की ओर चल दिया।

गृहिणी के घर पहुँचकर भिक्षु के मन मे भाव उठने लगे—क्यो न मै यही पर अपनी आहारचर्या पूर्ण कर लूँ ? तभी गृहिणी ने अनुरोध किया कि भते, कृपया आप यहीं आहार ग्रहण कर ले। भिक्षु जब आहार कर चुका, तो मन मे भाव उठा—बडी प्रचड गर्मी है, परितृप्त होकर भोजन किया है। क्यो न थोड़ी देर के लिए यहीं विश्राम कर लूँ। तभी गृहिणी ने अनुरोध किया—भते, आप यहीं पर विश्राम कर लीजिए। भिक्षु इस बात को सुनकर थोडा चौका कि प्रकृति की भी क्या व्यवस्था है कि मेरे मन मे जो विचार उठ रहा है, उसको यह गृहिणी पूरा कर रही है।

भिक्षु वहॉ विश्राम करने लगा। तभी उसके मन मे पुनः एक विचार उठा—अगर मै घर में होता, तो मेरी पत्नी सो जाने के बाद पखा लेकर आती और पंखे से मुझे हवा करती। वह ऐसा सोच ही रहा था कि वह गृहिणी एक बड़ा पखा उठा

लाई और भिक्षु को हवा करने लगी। भिक्षु इस बात से बहुत ही विस्मित हो उठा कि अचानक इस गृहिणी के द्वारा पंखा लेकर आना और हवा करना.... कहीं यह मेरे मन के भावो को तो नही पढ़ रही है ? वह आशंकित हो उठा।

तभी भिक्षु को जोर की प्यास लगी। उसके मन मे भाव उठा कि थोड़ा पानी पीने को मिल जाता....तभी वह गृहिणी एक लोटा पानी लेकर उसके सम्मुख उपस्थित हो गई। भिक्षु ने समझ लिया कि जरूर यह गृहिणी मेरे मन के विचारों को पढ़ रही है। वह उठा और त्वरित गति से चैत्य-विहार की ओर रवाना हो गया।

भिक्षु रात भर सो न पाया। वह इसी उधेड़बुन मे लगा रहा कि कोई और व्यक्ति किसी और व्यक्ति के विचारो को कैसे पढ़ सकता है ? अगले दिन वह आहारचर्या की अनुमति के लिए भगवान के पास पहुँचा। भगवान ने कहा—वत्स, तुम आहारचर्या के लिए जहाँ कल गये थे, आज भी वही पर जाओ। भिक्षु ने कहा—न जाने कैसे वह स्त्री मेरे मन के हर विचार को पढ़ लेती है। भगवान ने कहा—शायद तुम अपने प्रति असजग होकर आहारचर्या के लिए गये होगे; आज तुम अपने चित्त के हर संस्कार, हर विकल्प के प्रति सजग रहते हुए आचारचर्या के लिए जाओ। ध्यान रखना, क्षण भर के लिए भी अपनी सजगता को खंडित मत होने देना। भगवान का आदेश था, भिक्षु फिर रवाना हुआ।

ताज्जुब, आज भी गर्मी उतनी ही प्रचड है, लेकिन अहसास नही हो रहा है। कदम बढ़ते चलते जा रहे है कि जैसे यह आहारचर्या के लिए प्रस्थान न हो, किसी विपश्यना का चंक्रमण हो, ध्यान की अन्तर्यात्रा हो। आखिर भिक्षु उस सद्गृहिणी के द्वार पर पहुँच ही गया। उसके हृदय मे कोई भाव अकुरित नहीं हो रहा है, क्योकि हर भाव और हर वृत्ति के प्रति परम सजगता है। उसने आहार ग्रहण किया और पुनः रवाना हो गया। न कोई विचार उठा, न कोई भाव जगा।

आहारचर्या से जब भिक्षु वापस आ गया, तो आते ही उसने भगवान को अपने प्रणाम समर्पित किये और कहा—भंते, आज की आहारचर्या का आनंद कुछ और ही रहा। भगवान ने तीसरे दिन भी उसी भिक्षु को उसी सद्गृहिणी के द्वार पर भेजा। आज ऐसा लग रहा था कि आहारचर्या की यह यात्रा जैसे चैत्य-विहार की यात्रा हो। उसने गृहिणी से एक प्रश्न किया—ओ सद्गृहस्था, क्या तुम मुझे बता

सकोगी कि मेरे चित्त मे उठने वाले हर सस्कार, हर विचार को कैसे पढ लेती हो ? सद्गृहिणी ने कहा—जो व्यक्ति अपने चित्त के हर संस्कार, मन की हर सोच के प्रति आत्मजागरूक बना हुआ रहता है, वह अपने इर्द-गिर्द होने वाली हर छोटी-सी हलचल का भी साक्षी होता है। आपकी कृपा से मै ऐसे ही पढ लिया करती हूॅ।

गृहिणी का उत्तर पाकर भिक्षु की जिज्ञासा बढ़ चली। उसने पूछा—अगर ऐसा ही है, तो क्या मै भी किसी और के विचारों को पढ सकता हूॅ। गृहिणी ने कहा—भते, जो व्यक्ति अपनी चेतना के प्रति प्रतिक्षण सजग और आत्मजाग्रत बना हुआ रहता है, वह इतना शान्त और शून्य होता चला जाता है कि उसके इर्द-गिर्द सरोवर मे कोई लहर भी उठती है, तो उसे भी वह पकड़ लेता है। जो व्यक्ति हर क्षण स्वयं के आत्मज्ञान की रोशनी मे जीता है, वह न केवल अपने अचेतन मे छिपे हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार को भी पढ़ सकता है, वरन् किसी और के चित्त में उठने वाली तरग का भी ज्ञाता हो जाता है। भिक्षु तब वहॉ से लौट जाता है, लेकिन लौटने के साथ ही ध्यान का वह गुर, वह कुॅजी अपने साथ लेकर लौटता है कि कहते हैं जब वह पुनः भगवान के द्वार पर पहुॅचता है, तो उसके पहले ही जीवन में बुद्धत्व का कमल खिल जाता है।

नदिया के एक छोर पर कैवल्य की आभा बिखर रही थी और दूसरे छोर पर बुद्धत्व का कमल खिल रहा था। एक ओर कैवल्य था, तो दूसरी ओर बुद्धत्व, बीच मे बह रही थी जगत की नदिया। जिन दो छोरो से यह आभा और सुवास बिखर रही थी, दोनो ने ही अपने जीवन मे तपस्या की, मौन को अंगीकार किया। दोनों ने ही एकान्त को अपने जीवन मे गहन तरीके से जिया, लेकिन जब जीवन की अन्तिम परिणति तक पहुॅचे, जब सत्य के परम स्वरूप से साक्षात् हुए, तब दोनों ही ध्यान के मार्ग और लक्ष्य को उपलब्ध हुए।

स्वयं की चेतना के प्रति रहने वाली स्मृति का नाम ही ध्यान है। ज्यो-ज्यों साधक अपने स्वयं की सतत स्मृति मे अन्तर्लीन बना हुआ रहता है, वह बाहर की हर गतिविधि, हर क्रिया से उपरत होता चला जाता है। ध्यान का मार्ग वह मार्ग है, जिस पर वे स्वय चले, जिस पर चलने के लिए उन्होने हजारो-हजार रास्ते आम जनता के लिए खोले। वही मार्ग आने वाले कल के लिए अनुप्रेक्षा बन गया, विपश्यना बन गया। शब्द दो है, अर्थ दोनो का एक ही है। काया दोनो की अलग-अलग है, लेकिन आत्मा दोनो की एक ही है। अनुप्रेक्षा विपश्यना की आत्मा है और विपश्यना अनुप्रेक्षा का पर्याय है।

जिस मार्ग से महावीर चले, उसी मार्ग से बुद्ध चले। दोनो का मार्ग एक रहा। जिसने भी उस महामार्ग को स्वीकार किया, वह हर पथिक मंजिल को उपलब्ध हुआ और जिसने उस महामार्ग को छोड़ दिया, वह सिर्फ क्रियाकांड की कट्टरता मे ही उलझा रह गया। जो उस महामार्ग का पथिक बना रहा, उसके हाथ मे तो महावीर और बुद्ध के अनन्त ज्ञान की मशाल थमी हुई रही और जिसने महामार्ग का त्याग कर दिया, उसकी मशाल बुझ चली। हाथ में मशाल के नाम पर केवल डंडे रह गए, जिनसे कि आदमी, आदमी से लड़ता रहा; धर्म, धर्म से लड़ता रहा, लेकिन जिन्होंने डंडों को उठाकर फैंक दिया और ज्योति की खोज कर ली, वह स्वयं ज्योतिर्मय हो उठा, मशाल की तरह दीप्त और प्रदीप्त हो उठा।

महावीर की समस्त जीवनचर्या को देख लिया जाए, तो लगता है कि विपश्यना उनके जीवन से इज़ाद हुई एक सहज विधि भर है। महावीर द्वारा अपना हर कदम इतनी सजगता और जागरूकता से रखा जाता था कि वह विपश्यना का पदचिह्न होता। बुद्ध ने जप-तप किये, यम-नियम पाले, प्राणायाम किया, लेकिन बात किसी से भी बन न पाई। वर्षो वर्ष गुजर गये, लेकिन बात जब सधी तो ध्यान की साधना से ही सधी।

जगत को ध्यान से देखना ही विपश्यना है और जीवन-जगत की ध्यान से विपश्यना करना ही अनुप्रेक्षा है। मूल शब्द है—पश्य और पश्य का अर्थ होता है—देखना। विपश्यना का जो अर्थ होता है, वही अर्थ अनुप्रेक्षा का है—लगातार देखते रहना। विपश्यना शब्द बौद्ध ग्रंथों में भी है और जैन ग्रंथों मे भी। प्रेक्षा शब्द भी दोनों ही ग्रंथों में है। दूरियाँ तो बढ़ी है। नदिया तो आगे जाकर दो धाराओ में बँटती है, मूल उद्गम तो एक ही होता है।

बुद्ध ने देखा, लगातार देखा, तो चमत्कार घटित हुआ। देखा उन्होंने ध्यान से किसी बूढ़े को, हो गई विपश्यना। देखा किसी प्रसवग्रस्त महिला को, हो गई विपश्यना। महावीर ने भी देखा ऐसा ही किसी के जन्म को होते हुए, हो गई अनुप्रेक्षा; देखा किसी चिता को जलते हुए, हो गई अनुप्रेक्षा। किसी व्यक्ति ने अपने जीवन में तीर्थ-यात्रा की, मंदिर मे पूजा की, अच्छा किया, पर अगर किसी जलती चिता को ध्यान से देखा या न देखा, अध्यात्म की दृष्टि से यह बड़े मुद्दे की बात है।

बुद्ध तो कहते है कि जिस साधक को साधना की डगर पर अपने कदम रखने हो; वह व्यक्ति मेरे सान्निध्य मे बाद मे आए; उससे पहले किसी मरघट में जाकर जलती हुई चिताओ को देखे। देखे, और निरतर देखता चला जाए। ज्यो-ज्यो आदमी चिता को देखेगा, उसकी चेतना जगेगी; वह देह की नश्वरता को समझेगा, देह की विपश्यना करेगा और देह मे रहते हुए भी देह के भावो से मुक्त हो जाएगा। महावीर ने भी देखा था अपनी माता-पिता की चिता को जलते हुए। चिता को देखकर उनके भीतर रहने वाला वर्द्धमान का भाव मिट चला। वर्द्धमान का अर्थ होता है—बढने वाला, विस्तार लेने वाला, माया से घिरा हुआ। तब वर्द्धमान बिखर गया और उसकी जगह उभर आया महावीर, चेतना का महावीर, संबोधि और अनुप्रेक्षा का महावीर। ऐसे ही कोई बुद्ध, कोई आनदघन, कोई राजचन्द्र, कोई चंद्रप्रभ जगता है और जान ही लेता है और मुक्त हो जाता है।

अगर देख लिया तुमने किसी की अर्थी को जाते हुए, हो गये उस अर्थी के साथ ध्यान से एकाकार, तो वह अर्थी तुम्हे जीवन का अर्थ दे जाएगी। जो व्यक्ति अर्थी को देखकर भी जीवन का अर्थ न समझ पाए, वह अपने जीवन को कैसे सार्थक कर पाएगा ! देख ले अगर कोई जलती हुई चिता को, मिट जाएँगे उससे उसके चित्त के संस्कार, देह के प्रति रहने वाली आसक्ति, जगत के प्रति रहने वाला मिथ्यात्व और मूर्च्छा का आकर्षण। साधक प्रयोग के द्वार से गुजरे; विपश्यना और अनुप्रेक्षा के प्रयोग से गुजरे। जब तक मनुष्य के हाथ मे जीवन का प्रयोग न होगा, तब तक धर्म वैसे ही होगा, जैसे कोई आदमी अपने कधे पर बोझा ढोए फिरता है। धर्म के पास प्रयोग न रहा, इसलिए धर्म इसान से दूर हो गया; वह इंसान के कायाकल्प के लिए काम न कर पाया। जागे जिसकी चेतना, वह आए ध्यान के इस द्वार पर कि जो द्वार उसके लिए मुक्ति का द्वार खोल दे; गुजरे आदमी विपश्यना के द्वार से, सबोधि के द्वार से।

विपश्यना क्या है ? केवल सजगता का नाम विपश्यना है। पहली सजगता सॉस के प्रति, अपनी सॉस के साथ व्यक्ति को प्रयोग करने ही चाहिए, क्योकि सॉस एक ऐसा सेतु है, ऐसा माध्यम है, जो भीतर और बाहर दोनों के बीच देहरी के दीये का काम करता है; जिसकी पहुँच ठेठ भीतर तक है और बाहर तक भी। श्वास और चित्त का अपना एक गहरा सबंध है। तुम अगर किसी को कहो कि बड़ी मध्यम गति की सॉस लेते हुए क्रोध करना है, तो यह असभव है। तुम किसी

से कहो कि मद गति की सांस लेनी है और फिर कहो कि कामना की लहर उठे, तो यह नामुमकिन है। श्वास पर नियंत्रण करके व्यक्ति अपने चित्त पर नियंत्रण कर सकता है।

तुम जब किसी को क्रोध करते देखो तो तत्काल उसके साँस को देखना कि उसकी सॉस की स्थिति कैसी हो चुकी है। उसकी साँस कुत्ते के साँस की माफिक हो जाती है। विपश्यना और अनुप्रेक्षा में इसीलिए साँस की प्रेक्षा करने के लिए, विपश्यना करने के लिए जोर देते हैं कि तुमने साँस पर नियंत्रण कर लिया, तो तुम्हारा अपने चित्त पर अपने आप ही नियंत्रण हो गया। लोग ध्यान करते हैं, कहते है कि मन नहीं टिकता, क्योंकि हम साँसों को लयबद्ध और संगीतबद्ध कर नहीं पाए। श्वास के प्रति सजगता हो, संवेदनाओं के प्रति सजगता हो और अगर हो सके तो अपने कृत्यों के प्रति अपनी सजगता हो।

संसार भर मे विपश्यना और अनुप्रेक्षा-ध्यान के अनेकानेक प्रयोग हुए है, कई तौर-तरीके अपनाए गए हैं। जापान और तिब्बत में पेट के उठने और गिरने पर विपश्यना को मुख्य रूप से केन्द्रित किया गया। स्वयं भगवान महावीर और बुद्ध के समय में विपश्यना के चंक्रमण पर ध्यान दिया गया कि आदमी जब चलता है, तो उसके पाँवों का उठना और रखना इस तरीके से हो कि वह उठना और रखना भी विपश्यना-ध्यान को साध ले। किसी ने आहिस्ता से पैरो को रखा कि सारा ध्यान पाँवों पर केन्द्रित हो गया और जब चलते-चलते लगा कि चित्त मे कोई संस्कार उठ आया है, तो पाँवों से ध्यान हटा दिया और उठने वाले उस संस्कार पर ध्यान केन्द्रित कर दिया। ध्यान तब तक केन्द्रित करके रखा, जब तक कि वह संस्कार निर्मूल न हो गया; बिखर न गया। जैसे ही वह संस्कार बिखरा कि फिर वही चलते पैरों पर ध्यान केन्द्रित।

आप लोग नहीं समझ पाए होंगे कि महावीर ने जिस ईर्या-समिति की बात कही, उसके पीछे मूल भावना क्या रही ? ईर्या-समिति अपने आप मे अनुप्रेक्षा और विपश्यना की साधना है कि आदमी जब चलता है तो बौद्धों की भाषा में वही विपश्यना-चंक्रमण हो गया और जैनों की भाषा में वही ईर्या-समिति हो गया। शब्द बदल गये, बात वही की वही रही। हर कृत्य के प्रति सजगता रहे। वह सजगता ही ध्यान की मूल आत्मा है। वह सजगता चाहे श्वास के प्रति हो, संवेदना के प्रति

हो या किसी भी कृत्य के प्रति हो। चाहे जो स्थिति हो, हर स्थिति के प्रति सजगता का नाम ही ध्यान है, योग है, विपश्यना और अनुप्रेक्षा है।

लोग दिन मे भी सपने देख लेते है और साधक को रात मे भी सपने नहीं आते। साधक दिन मे अपने चित्त के सस्कारो के प्रति सजगता रखता है और रात मे भी चित्त मे कोई संस्कार उठे तो उसके प्रति भी सजगता होती है, हर पल सजगता। महावीर का बडा हृदयहारी सूत्र रहा—

जयं चरे जय चिट्ठे
जयमासे जय सए।
जयं भुजतो भासतो
पावं कम्म न वड्ढइ।।

यतना से चलो। चेतना से बोलो। यतना से सोओ। यतना से खाओ। जो कुछ हो, यतनापूर्वक हो। यतना क्या है ? यतना सजगता है, यतना विपश्यना है, यतना अनुप्रेक्षा है। चाहे तुम चलो या बैठो, लेटो या खाओ, लेकिन सारे कार्य इतनी सजगता से संपादित होते चले जाएँ कि बेहोशी का नाम न हो। तुम्हारा कोई भी कार्य अविद्या और मिथ्यात्व से घिरा हुआ न रह जाए।

कहते हैं : भगवान बुद्ध बैठे हुए थे। उनके कधे पर एक मक्खी आकर बैठी। मक्खी की संवेदना कुछ ऐसी रही कि बुद्ध पल भर के लिए भूल ही गए और हाथ का एक झपट्टा दे मारा। मक्खी उड़ गई। बुद्ध तत्क्षण सजग हो गए, सावधान हो गए। उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ। उन्होने दुबारा धीरे-से हाथ उठाया और अपने कधे की तरफ बढ़ाया और वापस धीरे-से नीचे ले आए।

बुद्ध के पास आनंद बैठे हुए थे। आनद ने पूछा—भते, यह बात समझ मे नहीं आई कि मक्खी बैठी थी, तब आपने उसे झपट्टे से उड़ा दिया और जब वह उड़ चली तो आपने धीरे-से हाथ वहाँ तक ले जाने की कोशिश की। बुद्ध ने कहा— हाँ आनंद, बात ऐसी ही रही। उस क्षण मेरे भीतर यह सजगता न रही और मैंने मक्खी को उड़ा दिया। महत्त्व इस बात का नहीं है कि मक्खी बची या मरी, महत्त्व इस बात का है कि हमने कितने ध्यान से मक्खी को उड़ाया या मक्खी को हटाया। उस मक्खी को हटाने मे भी विपश्यना की साधना सध रही है कि हमने अपने कृत्य के प्रति कितनी सजगता रखी।

इसी तरह महावीर के जीवन की एक घटना है। महावीर के पास कुछ शिष्य बैठे हुए बतिया रहे थे। कह रहे थे—मै तो उस गाँव मे गया। वहॉ के लोग बडे कजूस है। वे तो प्रेम से किसी को आहार भी नहीं देते। तुम लोग भूलकर भी उस गाँव में मत जाना। दूसरे शिष्य ने कहा—तुम उस गाँव की बात करते हो, मै दूसरे गाँव गया था। वहाँ के लोग तो इतने जगली है कि अगर किसी भिक्षु या साधु को देख ले, तो लाठियाँ लेकर उनको पीटने के लिए दौड़ा करते है। तीसरे भिक्षु ने कहा—मैं अमुक गाँव मे गया। उस गाँव का रास्ता बड़ा सुगम है। वहाँ के लोग भी बड़े दयालु है। भगवान यह सब सुन रहे थे।

भगवान के दूसरी ओर कुछ भिक्षु और बैठे थे। उनमे से कुछ अपने काष्ठ-पात्रों को रंग-रोगन कर चमका रहे थे, तो कुछ गोलमटोल बेल-बूँटी बनाने की स्पर्धा कर रहे थे। भगवान ने दोनों तरफ देखा और मुस्कुरा पड़े। उन्होंने एक तरफ के भिक्षुओं से कहा—वत्स, तुम किस जंगलीपन की, किस कृपणता की और किस सौंदर्य की बात कर रहे हो ? असली जंगलीपन तो हम सबके भीतर होता है; असली सौदर्य भी बाहर नहीं, अन्तस्-चेतना और अन्तर्मन मे समाया रहता है। तब भगवान ने दूसरी ओर नज़र डालते हुए कहा—भिक्षुओ, क्या तुम यह नहीं जानते कि तुम यहाँ मेरे पास किस काम से आये हो और यह क्या करने लग गये हो ? तुम यहाँ अन्तस्-चेतना की साधना के लिए आए हो, न कि चित्रकार बनकर किसी पात्र पर बेल-बूँटे बनाने के लिए।

भगवान के ये शब्द उनकी अन्तस्-चेतना पर ऐसी चोट कर गये कि उनकी ऑखों से आँसू ढुलक पड़े। उन्हे अपनी गलती का अहसास हुआ। उनकी ऑखों से जो ऑसू बहे, उनसे वह रंग-रोगन ही नहीं, भीतर का कलुष, कषाय और कचरा भी बह गया।

देखा जिसने ध्यान से, पहचाना जिसने स्वयं को, वही व्यक्ति धार्मिक है, वही व्यक्ति आध्यात्मिक है। उतर जाए जिससे चित्त की मलिनता, मन का कालुष्य, वही मार्ग मार्ग है। जो मार्ग मार्ग-फल तक न पहुँचा पाए, वह अपने आप में कोई दिग्भ्रम और भटकाव है। कृत्य के प्रति सजगता, साँस के प्रति सजगता, संवेदनाओं के प्रति सजगता रहे, राग या आसक्ति न हो। जहाँ व्यक्ति हर कृत्य, हर दृश्य के प्रति क्षण-प्रतिक्षण सजग और जागरूक बना हुआ रहता है, वह व्यक्ति साधक है, फिर चाहे वह विपश्यना या अनुप्रेक्षा के शिविर में बैठा हो या न बैठा हो। फर्क

शब्द का ही पडेगा, चाहे उसे संबोधि-ध्यान कहे, विपश्यना-ध्यान कहे या अनुप्रेक्षा-ध्यान कहे। मूल बात है अतर्-सजगता की; अन्तर-दृष्टि की, अन्तर-साक्षित्व की।

ध्यान की चार दृष्टियॉ है। पहली दृष्टि है—अनित्यता की भावना; यानी अनित्य देखना, हर किसी को। सब कुछ अनित्य है, यही तो महावीर और बुद्ध निरतर अपने शिष्यो को कह रहे है—तुम्हे सब कुछ 'थिर' मालूम पड़ता है—ये वृक्ष, ये पर्वत, ये मकान, यह परिवार, यह जमीन-जायदाद, लेकिन क्षण-प्रतिक्षण सबमे परिवर्तन हो रहा है। जिस जगह आदमी बैठा हुआ है, सभव है वहॉ अब तक कम-से-कम दस इंसान दफनाए जा चुके हों। जिस माटी पर हमारा पॉव पडा है, वह माटी भी नश्वर है और जिस माटी को देखकर हम मूर्च्छित है, वह माटी भी नश्वर है और जिस माटी की काया हम बने हुए है, वह माटी भी नश्वर है। सब कुछ बिखर जाने वाले है।

प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। न केवल स्थूल चीजें ही, वरन् मनुष्य के विचार, उसका मन, उसकी काया की पर्यायें, आत्मा मे उठने वाली कर्म की प्रकृतियॉ, चित्त मे उठने वाली सस्कार-धाराऍ सभी परिवर्तनशील है। जो हो चुका सजग और साक्षी, उसने जान लिया कि मै किससे बॅधूँ, किससे मुक्त होऊॅ; किससे जुडूँ, किसको त्यागूँ मै तो सबसे मुक्त हूॅ। सब कुछ आखिर परिवर्तनशील है, मैं तो केवल अन्तश्चेतना मे तल्लीन हूॅ, जो कि जन्म और मृत्यु के बीच में ध्रुवता का संबंध जोड़े हुए है। जान ही लिया कि सब बदल रहा है, मिट रहा है।

आदमी पल-प्रतिपल के परिवर्तन से ऑखे मूँदे हुए है। उसे अहसास तो तब हो, जब रात को सोये तो जवान हो और उठे तो बूढ़ा पाए, वरना आईने में स्वय को रोजाना निहार कर तो अहसास जगने वाला नहीं है। यह तो इतना सूक्ष्म परिवर्तन है कि किसी भी तराजू पर तोला नहीं जा सकता है। आधुनिक विज्ञान सैकण्ड के हजारवे हिस्से तक पहुॅच गया है, लेकिन जीवन का परिवर्तन तो उससे भी कई-कई गुना सूक्ष्म होता है। हर आदमी हर पल मौत से घिरा हुआ है। कौन आदमी है, जो स्वयं मे शाश्वतता की अलख लिए हुए है ! धरती पर कोई भी अमर नहीं हुआ है, न अवतार, न तीर्थकर और न ही पैगम्बर। न यहॉ मित्र सदा मित्र रहता है और न शत्रु यहॉ शत्रु रहता है; न प्रेम सदा प्रेम रहता है और न क्रोध सदा क्रोध रहता है। सब कुछ तो यहॉ बदल रहा है।

बहुत प्यारी-सी घटना घटी। कहते है कि एक सम्राट् के मन मे यह चाह जगी कि मैं ठहरा इतना व्यस्त आदमी। मैं दुनिया भर के शास्त्रो को पढ़ नहीं सकता। मुझे तो कोई सार-सूत्र मिल जाए कि जब-जब जरूरत पड़े तो मै उस एक सूत्र को पढ़ लूॅं। सम्राट् था सम्पन्न, लंबी-ऊँची पहुँच, सो दुनिया भर के विद्वानो को आहूत किया। सबने अपने-अपने ढग से अपने-अपने धर्म का सार-सूत्र एक पंक्ति में लिखकर दिया, लेकिन राजा को बात जची नही। किसी मे भी दम नजर नही आया। आखिर एक दिन मत्री ने कहा—महाराज, इसी नगर के बाहर एक सूफी फकीर रहता है। वह सदा मौन-ध्यानमग्न रहता है। क्यो न हम उससे जाकर कहे कि हमें ऐसा सार-सूत्र दे दे, जो कि दुनिया भर के सारे शास्त्रों का सार-सूत्र हो।

सम्राट् और मंत्री फकीर के पास पहुँचे और अनुरोध किया। फकीर ने कहा—महाराज, मै कोई ज्ञानी आदमी नहीं हूँ। मैंने दुनिया भर के शास्त्र पढ़ नहीं रखे हैं, लेकिन हाँ मेरे गुरु ने अपनी मृत्यु से पूर्व मुझे एक ताबीज दिया था और कहा था कि इसके भीतर एक सार-सूत्र लिखा हुआ है, जो कि दुनिया भर के शास्त्रों और अनुभवों का निचोड़ है। गुरु ने मुझसे कहा था कि तुम इस सूत्र को तभी पढ़ना, जब तुम्हें लगे कि तुम पूरी तरह से असहाय हो गये, निरुपाय हो गये, परम व्यथा से घिर चुके, तुम्हारे पास कोई चारा न बचा। महाराज, मेरे जीवन में तो अब तक ऐसा वक्त नहीं आया। आप चाहें तो इसे ले जाएँ। मगर ध्यान रखिएगा कि इस ताबीज को तभी खोलिएगा, जबकि आप अपने आपको परम व्यथा और वेदना से घिरा हुआ पाएँ।

सम्राट् ताबीज ले आया। उसके मन में कई बार आया कि ताबीज को खोलकर देख लूँ, मगर अपना दिया वचन याद आ जाता। वक्त बदला। वक्त बदलने के साथ ही पड़ौसी राजाओ ने आक्रमण किया। सम्राट् युद्ध मे हार गया। अपने घोड़े पर बैठकर वह जंगल की तरफ भाग निकला। साथ मे जो सैनिक थे, वे भी पीछे छूटते गये। पड़ौसी देश के सैनिक उसका पीछे करते रहे, सम्राट् अपने घोड़े को दौड़ाता रहा।

अब भी पीछे घोड़ो के टापों की आवाज आ रही थी। घोड़ा दौड़ाता-दौडाता वह एक पहाड़ी की तरफ चढ़ गया। और आगे बढ़ा तो लगा कि आगे तो और बहुत गहरी खाई है। वह न पीछे लौट सकता था, न आगे बढ़ सकता था। वह

घोडे से उतरा और एक वृक्ष की छॉव मे खड़ा हो गया। वह सोचने लगा कि ईश्वर की भी क्या लीला है। अचानक उसे उस ताबीज की याद हो आई। उसे लगा—हॉ, यह वह वेला है, जब मुझे ताबीज को खोलना चाहिए। उसने ताबीज को खोला। ताबीज मे कागज का एक टुकड़ा निकला, जिस पर वह सार-सूत्र अकित था, लिखा था—"दिस टू विल पास, यह भी बीत जाएगा"। वह मुस्कुरा पड़ा।

सम्राट् सोचने लगा—मैं जब सम्राट् रहा तो वह भी बीत गया और आज जब मै जगल मे परम वेदना मे खड़ा हूॅ, तो क्या यह भी बीत नही जाएगा ? उसके हृदय मे आत्म-विश्वास की एक हिलोर उठ आई, इच्छा-शक्ति फिर से प्रबल हो उठी। उसने अपनी बची-खुची सैन्य-शक्ति को फिर से इकट्ठा किया और फिर से शत्रु राजाओ पर आक्रमण कर दिया। फिर जीत गया। फिर से उसका राज्याभिषेक होने को था, मुकुट उसके सिर पर रखा जा रहा था, तिलक हुआ कि उसे याद आई उस ताबीज की, उस मत्र की—दिस टू विल पास। वह उदास हो गया।

सारी सभा में सन्नाटा छा गया कि राज्याभिषेक के क्षणो मे सम्राट् के चेहरे पर मायूसी ! सम्राट् ने कहा—बात ही कुछ ऐसी है। जीवन मे आज यह आत्मबोध जग रहा है कि सब कुछ ही तो बदल रहा है। कौन-सी चीज यहाँ थिर है, शाश्वत है। जब वह बीत गया, तो यह भी बीत जाएगा....।

क्षण-प्रतिक्षण साधक को इस बात का स्मरण बना हुआ रहे कि आखिर तो सब कुछ अनित्य है। किसके प्रति आसक्ति, किसके प्रति मूर्च्छा ! सब 'अणिच्चं'।

ध्यान की दूसरी दृष्टि है—अशरण-भावना। यहॉ कोई भी शरणभूत नहीं है, आदमी तो बेचारा है। अगर यूॅ कहो उसे बेचारा, तो वह गाली मान लेगा, पर जो आदमी देख रहा है अपने जीवन को ध्यान से, वह पहचान रहा है कि हॉ, मैं बेचारा ही तो हूॅ, मै बेसहाय ही तो हूॅ। बच्चे तभी तक अपने हैं, जब तक कि उनके उड़ने के लिए पंख नही लग जाते। पत्नी तभी तक पत्नी है, जब तक कि इस काया मे तुम्हारे प्राण है। आखिर कौन तुम्हारा शरण होता है ! तू अकेला आता है, अकेला चला जाता है। किसे कहूॅ कि तू मेरा, किसे कहूॅ मैं पराया—सभी अपने और सभी पराये। कोई भी यहॉ शरणभूत नहीं होता—न परिवार, न धन-दौलत, न जमीन-जायदाद, न ही कोई और !

आज हर परिवार मे टूटन है, हर परिवार मे दुःख है। हर परिवार में परेशानी है। किसी का बेटा मर गया है, किसी की पत्नी मर गई है, किसी का पति

चल बसा है। किसी को बेटे दुःख देते हैं, किसी को धन की कमी है, तो किसी को कोई संत्रास। भला, किस आदमी के जीवन मे परम सुख है ! जो आदमी बाहर से सुखी दिखाई देता है, वह भीतर से कितना टूटा हुआ है, यह तो स्वयं वह आदमी ही समझ सकता है। बेटा पिताजी के उपचार के लिए बड़े से बड़ा डॉक्टर लाकर खड़ा कर सकता है, पर वेदना तो उनको खुद को ही भुगतनी पड़ेगी। उस वेदना मे कौन किसका बँटवारा कर सकता है !

स्मरण होगा कि सम्राट् ने पहुँचकर संत से कहा—तुम इस युवावस्था मे क्या योग कर रहे हो ? संत ने कहा—क्या करूँ महाराज, अनाथ हूँ, इसलिए संन्यास लिया है। सम्राट् ने कहा—अगर तुम ऐसे ही अनाथ हो, तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को तैयार हूँ। बोलो, तुम्हे क्या चाहिए? संत के होठो पर मुस्कान बिखर गई। संत ने कहा—उसे क्या अपना नाथ बनाना जो खुद ही अनाथ हो। सम्राट् ने कहा—पता है, यह तुम किसके लिए कह रहे हो ? मेरे पास इतना राज-वैभव, इतना विशाल राजमहल, इतनी राज-रानियाँ हैं।

सन्त ने कहा—जो भूल तुम कर रहो हो, वही भूल एक दिन मैने भी की थी। सम्राट्, जैसे तुम सम्राट हो, वैसे मैं भी एक दिन राजकुमार रहा। घिर आया था मुझे कोई भयानक रोग। मैने शैय्या पकड़ ली। राजवैद्य, तांत्रिक, यांत्रिक सबकी कोशिशें नाकाम रहीं, सबने हाथ छिटक दिये। महाराज, मै अपनी वेदना को भोगने वाला एक अकेला था। मुझे तब लगा कि मैं राजकुमार नहीं, एक अनाथ हूँ, मेरे लिए कोई भी शरणभूत नहीं है। तब मैंने संकल्प लिया कि अगर मै स्वस्थ हो गया, तो मै अपने जीवन के कल्याण के लिए, आत्ममुक्ति के लिए अपने कदम बढ़ाऊँगा। ताज्जुब, उसी रात मै स्वस्थ हो गया। अगले दिन मैं संन्यस्त हो चुका। तब मेरे जीवन मे यह बोध जगा—हॉ, हर आदमी अनाथ है। सबका साथ है, फिर भी अनाथ है। संत की बात सुनकर सम्राट् की आँखें खुल गई।

दुनिया मे कोई भी शरणभूत नहीं होता, प्रतिक्षण इस बात का स्मरण बना हुआ रहे। इस बात का सदा बोध रहे कि मैं सबके बीच जी रहा हूँ, मगर फिर भी ऐसे जी रहा हूँ, जैसे कमल कीचड़ के बीच जीता है। इतना ही अनासक्त, इतना ही निर्लिप्त !

ध्यान की तीसरी दृष्टि है—एकत्व। एकाकीपन का निरंतर बोध साधक के भीतर बना हुआ रहे कि आखिर मैं एक हूँ, एकाकी हूँ; जन्म के साथ अकेला

आया, मृत्यु फिर मुझे अकेला कर जाएगी। फिर यह माथापच्ची क्यो, इस मूर्च्छा का क्या अर्थ ? एकाकीपन का यह फूल खिला हुआ रहे। जहॉ एकाकीपन का बोध निरन्तर बना हुआ रहता है, उस साधक के अन्तर्मन मे निरतर एक गहरा मौन बना रहता है, वह सदा एक गहरे शून्य मे, एक गहरी शान्ति में जीता है।

कहते है कि राजर्षि नमि लेटे हुए थे और राज-रानियॉ पास ही मे चदन घिस रही थीं। रानियो के हाथों की चूड़ियों की खनखनाहट राजर्षि नमि को सत्रस्त कर रही थी। नमि ने कहा—रानियो, चूड़ियो की आवाज कष्ट दे रही है। कुछ देर बाद शाति छा गई तो राजर्षि नमि ने कहा—क्या तुम सबने अपनी चूडियॉ उतार दीं ? रानियॉ बोलीं—नहीं महाराज, हमने एक-एक चूड़ी हाथ मे रख ली है और बाकी उतार दी हैं। नमि को जीवन का सूत्र हाथ लग गया—जहॉ एक है, वहॉ स्वतः शांति है !

जहॉ एकत्व का बोध है, वहॉ सदा आत्मबोध बना हुआ रहता है। वहॉ का उल्लास और आनन्द ही कुछ और होता है। उस एकत्व-बोध की अवस्था प्रतिक्षण साधक के भीतर बनी हुई रहे। किसकी बात का अच्छा मानो, किसकी बात का बुरा; किसके जन्म के लिए थाली बजाऊॅ, किसकी मृत्यु के लिए ऑसू ढुलकाऊँ।

ध्यान की अन्तिम दृष्टि है—अन्यत्व भाव। साधक निरन्तर यह जानता रहे कि सब कुछ अन्य है, और है, सब कुछ भिन्न है। यह परिवार, यह मकान ही मुझसे भिन्न नहीं, शरीर, विचार, संस्कार भी मुझसे भिन्न है। मेरा कोई नहीं है। कौन ज्ञानी ऐसा होगा, जो यह कहेगा कि यह शरीर, यह मकान, यह जमीन मेरी है। जहॉ ममत्व छूट चुका, जान ही लिया कि सब कुछ अन्य है, पराया है।

इस समय में जो बोल रहा हूॅ, वह आज का जो जाना हुआ सत्य है, वह मैं कह रहा हूॅ। जरूरी नहीं है कि यही सत्य कल भी मै दोहराऊँ। कल जो जानूॅगा, वह कल का सत्य होगा; आज जो जाना वह आज का सत्य है। जो व्यक्ति अपने विचारों को भी अपने से अलग देखता है, वह कैसे कह सकता है कि यह मेरा विचार है। वह तो जान रहा है कि ये तो मनो-मस्तिष्क के स्फुलिग हैं, जो उठते हैं और विकीर्ण हो जाते है। जिनके पखो मे हवा भर चुकी, वे उड़ जाऍगे। बाकी सब इस माटी से पैदा हुए हैं, माटी मे ही पुनः समा जाऍगे। किसको कहें अपना, सब कुछ पराया।

एक बार हर साधक बैठ ही जाए अनुप्रेक्षा-ध्यान मे, विपश्यना-ध्यान में और देखे अपनी देह को जलता हुआ। तब वह पाएगा कि यह घर, घर नहीं, धर्मशाला है; यह तन, तन नही पछी का पिंजरा भर है। गुजर जाए व्यक्ति एक बार मृत्यु की उस धारा से, जला डाले अपने देह की आसक्तियो को और मूर्च्छा को, पुद्गलो के मूर्च्छित घनत्व को। इस कारगर विधि से मै कई-कई दफा गुजरा हूँ, इसलिए जानता हूँ कि साधक जब स्वयं अपनी चिता को सजाता है, उसमे अपनी आसक्ति और मूर्च्छा को जलते हुए देखता है तो किस तरह से वह व्यक्ति मुक्ति का रसास्वादन करता है। जब आदमी जानता है, देखता है अपने अपको जलता हुआ, तब लगता है—

अब कबीरा क्या सिएगा, जल रही चादर पुरानी।
मिट्टी का है मोह कैसा, ज्योति, ज्योति मे समानी।।
जल रही चादर पुरानी।

तन का पिंजरा रह गया है,-उड़ गया पिंजरे का पंछी।
क्या करें इस पिंजरे का, चेतना समझो सयानी।।
जल रही चादर पुरानी।

घर कहाँ, है धर्मशाला, हम रहे मेहमान दो दिन।
हम मुसाफिर हो भले ही, पर अमर मेरी कहानी।।
जल रही चादर पुरानी।

जल रही धू-धू चिता, और मिट्टी, मिट्टी में समानी।
'चन्द्र' आओ हम चले अब, मुक्ति की मंजिल सुहानी।।
जल रही चादर पुरानी।

साधक जाने कि क्या है नित्य, क्या है अनित्य ! अपनी प्रत्येक श्वास के उदय को, विलय को बोधपूर्वक देखे। वह उदय-विलय के क्रम का द्रष्टा हो, अनुपश्यी हो। पहले श्वास के उदय-विलय पर द्रष्टा को जगने दे, सधने दे, फिर श्वास से भी सूक्ष्म में उतरे। शरीर में हो रहे वेदन-संवेदन, उद्वेग-सवेग के उदय-विलय को देखने और जानने की कोशिश करें। उस पर जागें। देह के उदय-विलय जनित संवेगों को सूक्ष्म वारीकी से जानें....इस बोध के साथ कि यह देह है, यह देह का धर्म है और यह मै....जो इस देह-धर्म के उदय-विलय का द्रष्टा।

इस अनित्यता के बोध से अशरण-भाव की साधना-दृष्टि उजागर होगी। तब ज्ञात होगा कि जब यह देह भी मुझसे भिन्न है, तब कौन अपना, कौन पराया। सब अशरण रूप, केवल आत्म-शरण रूप। तब ज्ञात होगा कि सब स्वार्थ का चक्र है। इस लोक-चक्र मे जीव कितनी बार कितनो के साथ रहा है, जिया है, बिछुड़ा है। सब नदी-नाव का संयोग भर। फिर किसके प्रति मूर्च्छा और किसकी आसक्ति। सब अशरण रूप, तब तुम पहली बार अपने होओगे; अपने प्रति उत्सकु बनोगे। उसी से उजागर होगी—एकत्व स्थिति/अन्यत्व स्थिति।

'जे एग जाणइ से सव्वं जाणइ' जिन-सूत्र कहता है—तब उस एक का बोध होता है, उस एकत्व का जिसे जानकर सबको जान लिया जाता है। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जो अपने आपको जान लेता है, वह जान ही लेता है कि सब अन्य है, भिन्न है। तब माया का कोहरा छॅट जाता है और ब्रह्म की चेतना अपना स्वरूप पा लेती है।

तुम देह के धर्मो के अनुपश्यी बनो, चित्त के संवेगो/संस्कारो के अनुपश्यी बनो। जो देह और चित्त—दोनो के सवेग-संस्कारो से विनिर्मुक्त हुआ, मुक्ति उसी की हथेली पर होती है। हम हंस-दृष्टि के, आत्मदृष्टि के स्वामी हों, अमृतपान के लिए गतिशील हों।

❑

मनुष्य का लेश्यामंडल

मनुष्य जैसा है, अपने ही कारण है। यदि वह सुखी है तो भी अपने ही कारण सुखी है और यदि वह दुखी है तो भी अपने ही कारण दुःखी है। यदि वह शान्त है तो भी अपने ही कारण शान्त है और यदि वह तनावग्रस्त है तो उसका कारण भी वह स्वयं ही है। यदि मनुष्य बँधा हुआ है तो इसका कारण यह है कि उसने बॅधना चाहा है और जिस क्षण वह मुक्त होना चाहेगा, उसी क्षण वह मुक्त भी हो जाएगा। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को बाँधने वाला कोई शैतान है और उसे मुक्त करने वाला कोई भगवान है। न कोई नियति उसकी संचालक होती है और न ही कोई काल उसके जीवन में परिवर्तन लाता है।

मनुष्य स्वयं ही अपना संचालन करता है और स्वय ही अपने जीवन के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होता है। मनुष्य को बंधन मे डालने वाला और मुक्त करने वाला कोई परमात्मा नहीं होता। ऐसी धारणा मत बना लेना कि हमने जो पाप किए है, वे परमात्मा की प्रार्थना करने से धुल जाएँगे। परमात्मा की प्रार्थना तुम्हारे लिए पुण्यार्जन में सहायक बन सकती है, पर किए हुए कर्मो को भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता है। सारा गुण-दोष, सारा दायित्व तुम्हारा स्वयं का ही है।

मनुष्य को बॉधने वाला कोई और नहीं है। वह बँधा है, क्योंकि ऐसा उसने चाहा है। मनुष्य के चित्त के संकल्प और विकल्प ही उसे बाँधते हं; उसके चित्त

मे उठने वाली राग-द्वेष की तरगे ही उसके बंधन का आधार बनती है; उसके मन में उठने वाले अच्छे-बुरे विचार ही उसे जकड़ते है। मनुष्य के जीवन का प्रेरक और सचालक आसमान मे बैठा हुआ कोई देवता नही है, वरन् वह तो स्वय उसके अन्दर ही बैठा होता है। मनुष्य का चित्त और उसका मन ही उसके बॅधन का कारण बनता है तो वही उसकी मुक्ति के द्वारो को उद्घाटित कर देता है।

मनुष्य के चित्त मे सवेग, राग-द्वेष की वृत्तियॉ तथा कषाय-युक्त विचार उठते ही रहते है। उन्हे ही ज्ञानीजनो की भाषा मे हम लेश्या कहते है। चित्त की कषाययुक्त वृत्ति का नाम ही लेश्या है। लेश्या मनुष्य की उस मन·स्थिति का पर्याय है जहॉ मनुष्य का चित्त, उसका मन और बुद्धि घिर जाए, जो हमारे चित्त को चारों तरफ से घेर ले, उसे चारो तरफ से आश्लिष्ट कर ले। उसे ही लेश्या कहा गया है। जैसे किसी पशु को बॉधने के लिए फन्दा होता है, उसी प्रकार किसी मनुष्य को बॉधने के लिए, उसके चित्त की वृत्तियॉ, सस्कार और लेश्याएँ होती हैं। कोई पशु जब फन्दे में बॅधता है, तभी तो उसे पशु कहा जाता है। पशु शब्द बना है 'पाश' से, जिसका अर्थ होता है फन्दा या बन्धन। जो फन्दे से या रस्से से बॅधा हो उसे ही पशु कहते है। हॉ, हम मनुष्य भी बॅधे है, जकड़े है और उसी फॅदे या रस्से को लेश्या कहते हैं।

आपने कभी ध्यान दिया इन दो शब्दो पर—पशु और मनुष्य। 'पशु' वह है जो पाश से बॅधा रहे और मनुष्य वह है जो स्वय के पाशो या बन्धनो से मुक्त होने का मनन करे। मनन करने वाला ही मनुष्य होता है और जो मनन की पराकाष्ठा तक पहुॅच जाता है वह 'मनु' होता है। आखिर मनुष्य किससे मुक्त होने के लिए मनन करे। जवाब है—मनुष्य कषायमुक्त होने के लिए मनन करे? क्या है ये कषाय? क्रोध, लोभ, अभिमान, मोह, माया और मूल रूप से राग-द्वेष ही कषाय हैं। कषाय शब्द का अर्थ है जो हमें कस ले। गौर करे, इन दोनों शब्दो पर—कषाय और पशु। 'पशु' वह जो पाश से बॉधा जाए और कषाय वह जो व्यक्ति को कस ले या बॉध दे। कषाययुक्त व्यक्ति शान्त चित्त से दो मिनिट के लिए मनन करे कि वह कषाय से कसा या बन्धा एक पशु ही तो नहीं है? दुनिया भर के शास्त्रों और सपूर्ण जीवन का ज्ञान होने के बावजूद, धर्म के नाम पर की जाने वाली दुनिया भर की क्रियाओं को करने के बावजूद व्यक्ति चित्त की वृत्तियों, सस्कारों और कषायों की लेश्याओं से घिरा हुआ है। उस व्यक्ति के द्वारा लगाई जाने वाली पहली

छलांग यह होगी कि वह अपने कषायो से बाहर निकल आए; अपनी लेश्याओ के भँवर-जाल से बाहर कूद पड़े। ऐसा नहीं कि हमने किसी हिन्दू, जैन, बौद्ध या सिक्ख धर्म में जन्म लेने का सौभाग्य प्रथम बार प्राप्त किया हो। इन उत्तम धर्मो को हम जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त करते रहे है, पर अपने कषायो से, लेश्याओ से उपरत न होने के कारण हमें प्राप्त महान् धर्म भी हमारे लिए किसी शरीर पर ओढ़े जाने वाला लबादा भर रह गया।

पतंजलि कहते है कि चित्त की तीन वृत्तियाँ होती है—सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति। सुषुप्ति का अर्थ होता है चित्त का बाह्य भावों के प्रति मूर्च्छित होना; स्वप्न का अर्थ होता है कि चित्त का कल्पनाओ और संकल्प-विकल्पो के जालो मे फॅसे रहना और जागृति का अर्थ होता है कि जहाँ व्यक्ति अपने चित्त में उठने वाले हर संकल्प और विकल्प के प्रति जागरूक रहता है, सजग और सावचेत रहता है। पतंजलि ने जिस प्रकार चित्त की तीन वृत्तियाँ बताई हैं, उसी प्रकार मनोविज्ञान ने भी चित्त की वृत्तियो को तीन भागो में बाँटा है। कोन्शियश माइंड, सबकोन्शियस माइंड और अनकोन्शियस माइंड। फ्रायड ने चित्त की जिन तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है उनमें पहला है चेतन मन, दूसरा अवचेतन मन, और तीसरा है अचेतन मन। महावीर ने चित्त की छः अवस्थाएँ कहीं, जिन्हें उन्होने 'लेश्या' नाम दिया। पहली लेश्या है—कृष्ण लेश्या, दूसरी नील लेश्या, तीसरी कापोत लेश्या, चौथी तेजो लेश्या, पाँचवी पद्म लेश्या और छठी शुक्ल लेश्या।

जिस प्रकार योग मनुष्य के शरीर से जुड़े हुए षड्चक्रो को स्वीकार करता है, उसी प्रकार महावीर ने भी मनुष्य के चित्त से जुड़ी हुई छः वृत्तियो को स्वीकार किया है। मनुष्य के शरीर में छह चक्र होते है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र। जो व्यक्ति इन छः चक्रों को पार कर लेता है, वह सातवे परम चक्र में प्रवेश करता है जिसका नाम है सहस्रार यानी सहस्रदल कमल। महावीर एक खास पहलू से व्यक्ति को जोड़ना चाहते है जो षट्चक्रो से भी ऊपर है। वह पहलू मनुष्य के अपने ही चित्त के चक्र और अपने ही मन के पर्दे में निहित है। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा का ज्ञान, उसका बोध और आत्मसुकून इसलिए नहीं मिल पाता क्योकि आत्मा पर अभी कुछ पर्दे पड़े हुए है। जब तक मनुष्य अपने चित्त पर पड़े इन पर्दों को नहीं हटाएगा तब तक उसका वास्तविक स्थिति और यथार्थ सत्य से साक्षात्कार नहीं हो सकता। व्यक्ति के चित्त

और आत्मा पर पड़े हुए इन छः पर्दो का स्वरूप वैसा ही है जैसे किसी सम्राट् या साम्राज्ञी को कैद कर रखा हो और उनकी कोठरियों के छः दरवाजो पर एक-एक करके छ. मोटे-मोटे लोहे के ताले लगा दिये गये हों। जब तक मनुष्य अपने भीतर विद्यमान तेजस्विता का संकल्प नहीं करेगा, उस शक्ति को जागृत नहीं करेगा, तब तक कपाटो पर लगे हुए लोहे के ताले खुलने वाले नही है। जिस दिन इस कारागृह के भीतर किसी कर्मयोगी कृष्ण का जन्म हो जाएगा, उस दिन स्वतः ही लोहे के ये कपाट, जजीरें, सींखचे और ताले खुल जाएँगे और तुम हर काराओ से मुक्ति पा जाओगे। गीता कहती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

यह मत सोचना कि जब-जब धर्म की ग्लानि होगी और अधर्म का साम्राज्य बढेगा, तब-तब धरती पर फिर-फिर कृष्ण अवतार लेगे। नही, हर मनुष्य को अपना कृष्ण स्वय बनना होगा। हर मनुष्य के भीतर एक छिपा हुआ कृष्ण है, जिसे उजागर करना होगा ताकि वह अपनी अन्तरात्मा पर लगे हुए इन पर्दो को, लोहे के इन तालों और सींखचो को, इन काराओ को गिरा सके।

आप ताज्जुब करेगे कि आज से करीब पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जब इन्सान के पास कोई उन्नत वैज्ञानिक साधन नहीं रहे होगे, तब एक इन्सान ने मनुष्य के मनोविज्ञान का सारा खाका खींच दिया था, ढॉचा खडा कर दिया था। ये छः लेश्याएँ मनुष्य के मनोविज्ञान की खींची हुई स्केच हैं, उसके जीवन की आध्यात्मिक ज्यॉमिति है। जैसे कोई व्यक्ति भारत का नक्शा बनाए, ऐसे ही महावीर ने हमारे मन या चित्तवृत्ति का नक्शा बनाया। जेसे कोई व्यक्ति किसी हिमालय या अन्य किसी स्थान के नक्शे को देख लेने मात्र से ही हिमालय की यात्रा का आनन्द नहीं उठा सकता, वैसे ही जब तक हम जीवन के मनोविज्ञान पर बनाए गए नक्शे पर खुद नहीं उतरेगे, तब तक यह नक्शा मात्र कागज पर उकेरी गई लकीरे होगी या किसी सत्सग मे बैठ कर सुनी गई सतही बातें होगी या किसी आग को राख से ढॉक दिया जाय अथवा किसी राख के ढेर पर गोबर का लेपन कर दिया जाए, ऐसी ही हमारी स्थिति हो जाएगी।

अगर आप अपने चित्त का लेश्यामडल पहचानना चाहते है तो आप सुबह जब उठते हैं, जिस समय कमरे मे अन्धेरा-सा होता है, उस समय बहुत धीरे-से

अपनी पलके खोलकर नाक के अग्र भाग पर अपना चित्त केन्द्रित करें तो आपको वहाँ पर कुछ धुँधला-सा नजर आएगा। यह धुँधलापन कुछ और नहीं, बल्कि आपके चित्त का प्रतिबिम्ब है, आपकी लेश्या और मनोवृत्ति का दर्पण है। जैसा जिसका धुँधलापन और जैसी जिसके रंग की स्वच्छता, वैसी ही उसके चित्त की विकृत या संस्कारित अवस्था। सोवियत रूस ने एक बहुत बड़ा आविष्कार किया था, जिसका नाम है 'किरलियान फोटोग्राफी'; एक ऐसी फोटोग्राफी जिसके जरिए व्यक्ति के चित्त का प्रतिबिम्ब देखा जा सके। रूस ने सबसे पहले इनका परीक्षण पेड़-पौधो और पत्तियों पर किया। उन्होने जानना चाहा कि अगर कोई पौधा है, कोई पत्ती है, तो उसका आभामण्डल कैसा है ? लेश्यामंडल और कुछ नहीं बल्कि जिसे हम आभामंडल या ऑरो कहते हैं, वही लेश्यामंडल है। आपने देखा होगा कि किसी संत या भगवान की तस्वीर के पीछे कोई सूरज-सी रोशनी चमक रही है। संभव है, पहले यह किसी कवि की कल्पना रही होगी। पर आज प्रयोगो ने इस जीवन के परम सत्य का प्रकटीकरण कर दिया है। यह आभामंडल किसी सत विशेष के साथ ही नहीं, संसार के प्रत्येक प्राणी के साथ जुड़ा हुआ है।

कोई भी व्यक्ति आभामण्डल के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। संसार मे एक मृत शरीर या लाश को छोड़कर सबका आभामण्डल होता है। क्या आप यह समझते हैं कि आपके प्राण शरीर के भीतर रहते है? नहीं, जिस प्रकार सूरज की रोशनी उसको चारों तरफ से घेरे रहती है, उसी प्रकार व्यक्ति के प्राण भी व्यक्ति के शरीर को बाहर से भीतर और भीतर से बाहर—दोनो तरफ से घेरे रहते हैं। जगदीशचन्द्र बसु भारत के एक महान् वैज्ञानिक हुए। उन्होने कलकत्ता के भरे बाजार मे एक पौधा खड़ा कर दिया और घोषणा की कि जिस तरीके से यदि मनुष्य को जहर पिलाया जाए तो वह मर जाएगा, उसी प्रकार यदि इस पौधे को जहर पिलाया जाए तो वह भी जीवित नहीं रहेगा। पौधे में भी वही प्राण और आभामडल होता है जो कि मनुष्य मे होता है। उन्होने उस पौधे को जहर का एक इन्जेक्शन दिया, लेकिन ताज्जुब की बात यह रही कि उस पौधे पर उसका कोई असर नहीं हुआ।

जगदीशचन्द्र बसु ने उस बोतल को ध्यान से देखा और उस बोतल में भरे हुए द्रव्य को निगल लिया। वे भी वैसे ही जीवित खड़े रहे। लोग चिल्लाए कि, 'क्या तुम्हारा आविष्कार निष्फल गया, इसलिए तुमने जहर पी लिया?' उन्होंने कहा,

'नहीं, मेरा आविष्कार निष्फल नहीं गया। अगर मेरा आविष्कार निष्फल जाता तो मैं जीने का दम भी नहीं रखता, मेरा आविष्कार नकली नही, बल्कि यह जहर नकली है।' तब असली जहर मगाया गया और उस जहर का इन्जेक्शन पौधे को दिया गया। थोड़ी ही देर मे पौधा नीला होकर गिर पड़ा।

जो प्राण मनुष्य मे हैं, वही प्राण पौधे मे भी है। उसके बाद आविष्कार हुआ 'किरलियान फोटोग्राफी' का, जिससे यह ज्ञात किया जा सकता है कि कब, किस क्षण, किस पौधे का रग कैसा होता है ? हर पौधे का रंग हरा होता है पर यह फोटोग्राफी बताती है कि यदि हम पौधे के पास हिसक भावो के साथ जाते है, तो पौधे का रग बदलकर नीला हो जाता है। इस परिवर्तन को इस विशेष फोटोग्राफी द्वारा कैद कर लिया जाता है।

हम अपनी ऑखों से अपना आभामण्डल, अपना 'ऑरो' देख नही पाते, क्योंकि ऑखो की अपनी एक सीमा होती है। 'किरलियान फोटोग्राफी' की यह विशिष्टता है कि उसमें प्रयुक्त लैसों की क्षमता, ऑखो से हजार गुना अधिक होती है ताकि चित्त में उठने वाले किसी भी प्रकार के ऊहापोह को वह ग्रहण कर सके। आपने कभी किसी अस्पताल में देखा होगा कि जब किसी व्यक्ति का कॉर्डियोग्राम किया जाता है तो डॉक्टर का हाथ मरीज के हार्ट पर नहीं होता। वहॉ तो केवल तार लगा दिये जाते है और कागज पर संकेत आने लगते है कि हृदय की कैसी स्थिति है? ऐसे ही जब मस्तिष्क पर तार लगा देते है, तो आप क्या सोच रहे है आप की सोच मे तनाव है या शाति है; सब कागज पर आता चला जाता है।

एक बार एक डॉक्टर ने मुझसे कहा मै आपके मस्तिष्क में मौजूद विचारो का मशीन द्वारा निरीक्षण करना चाहता हॅू। मैंने कहा, 'ठीक है कर लो।' मुझे लेटा दिया गया और मेरे मस्तिष्क के चारो ओर मशीन लगा दी गयी। उसने अपनी मशीन चालू कर दी। कोई एक या डेढ़ मिनिट बीता होगा। वह अलग-अलग तरीको से जॉचने और परखने लगा। उसने कहा—'साहब, क्या आप नींद ले रहे हैं ?' मैंने कहा कि 'यदि मैं नींद लेता होता तो आपकी बात कैसे सुनता ?' वह बोला, 'थोड़ा सोचिये, क्योकि उसकी मशीन मेरे मस्तिष्क को नहीं पकड़ पा रही थी। जिसका चित्त शान्त है, जिसमें लेश्याओं की उठापटक नहीं है, वृत्ति, विकल्प या उद्वेग और संवेग का भाव न्यूनतम उठ रहा है; उसे तुम कॉर्डियोग्राम से भी

भला क्या पकड़ पाओगे ?' मैंने कहा कि 'अच्छा चलो कि तुम्हारे इस कॉर्डियोग्राम के बारे मे ही सोच लेता हूँ।' मशीन अब चलनी शुरू हो गयी।

आप मन्दिरो में परमात्मा की जिस मूर्ति के दर्शन करने जाते है, आपने कभी ध्यान दिया कि उस परमात्मा की अवस्था अर्धोन्मीलित होती है। अर्थात् आधी ऑख बंद और नासाग्र पर ध्यान का केन्द्रीकरण। व्यक्ति जब एकाग्रचित्त होकर मात्र अपने नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करता है, तो वह अपने आभामडल को पहचान कर लेश्यामंडल को भी पहचान लेता है।

इसीलिए तो योग-शास्त्र ने भी नासाग्र पर ध्यान के केन्द्रीयकरण का समर्थन किया है। ये जो छः लेश्याएँ है, छः रंगों को प्रकट करती हैं। कृष्ण लेश्या—काला रंग, नील लेश्या—नीला रंग, कापोत लेश्या—कबूतरी रंग, तेजो लेश्या—पीला रग, पद्म लेश्या—गुलाबी रंग और शुक्त लेश्या—सफेद रंग। आज दुनिया भर की विभिन्न उपचार-पद्धतियों में रंग-विज्ञान भी एक है, जिसमें रंगों पर ध्यान केन्द्रित करके मनुष्य के चित्त को निर्मल करने का प्रयास किया जाता है और मनुष्य के प्राणकेन्द्रो का उपचार एवं चिकित्सा की जाती है। अपने-अपने चित्त से, अपनी-अपनी लेश्याओं से जुड़ा हुआ रंग ही रंग-विज्ञान है।

यदि आपको क्रोध आता है तो आप प्रतिदिन गुलाबी रंग का ध्यान करे तो आप पायेंगे कि आपका क्रोध शान्त हो रहा है। यदि आप स्वयं में हिसा की प्रवृत्ति अधिक पाते है तो आप श्वेत रंग का ध्यान करें; आप अपनी हिसक वृत्ति पर काबू पा लेंगे। यदि आप उदास और निराश हैं, तो पीले रंग को महत्त्व दें। रंगों का ध्यान एवं चित्त पर होने वाला उसका प्रभाव, हम तव समझेंगे जब हम लेश्याओ के बारे मे जानेंगे।

व्यक्ति के चित्त और अन्तरात्मा पर पड़ा हुआ सबसे पहला परदा है—कृष्ण लेश्या। परदा काला है, इसीलिए जब तुम ध्यान मे बैठते हो तो तुम्हें भीतर गहन अन्धकार ही नजर आता है। कबीर, नानक, दादू तो कहते हैं कि मनुष्य के भीतर हजारों-हजारों सूर्यों का प्रकाश है, पर जब मनुष्य अपने भीतर झाँकता है, तो वह अपने भीतर काला ही काला अन्धकार पाता है। यह अन्धकार ही तो कृष्ण लेश्या है।

यह काला रंग दिखना शुभ भी है, क्योंकि जब तक व्यक्ति को अंधकार की पहचान नहीं होगी, तब तक वह प्रकाश की तरफ कदम नहीं बढा पाएगा।

अँधेरे का दिखना, कृष्ण लेश्या का बोध होना, दूज के चॉद की तरफ अपने कदम बढाना है।

जिस तरह तिथि-गणना मे दो पहलू रहते है, एक कृष्ण पक्ष और दूसरा शुक्ल पक्ष, उसी तरह लेश्याविज्ञान मे भी ये दो पहलू है। कृष्ण लेश्या अमावस्या की प्रतीक है तो शुक्ल लेश्या पूर्णिमा की द्योतक है। आसमान मे या पण्डितो के पचांग में शुक्ल पक्ष हर पखवाडे आता है, मगर आदमी के जीवन मे तो सदैव कृष्ण पक्ष ही बना हुआ है। जीवन मे अभी पूर्णिमा नही आई है, अभी तमस् का ही प्रभुत्व है। अभी जीवन के नाम पर मात्र देह दिखाई देती है। किताबो को पढ़कर कह देते हो कि मैं देह नहीं, आत्मा हूॅ, पर आत्मा का कहीं कोई अता-पता नहीं है। मन्दिर मे जाते हो, शीश झुका आते हो, पर पता नही है कि भगवान है भी या नहीं। अभी तक तो जीवन के नाम पर देह की यह छाया और परमात्मा के नाम पर पत्थर की मूर्ति ही दिखाई देती है।

आप जब दर्पण में देखते है तो क्या आप अपने आप को देख पाते हैं ? नहीं, आप जो देखते हैं, वह तो देह है। यह कान, नाक, आँख और ये बाल तो मिट्टी के अंश हैं, खेत मे खड़े बिजूके है। दर्पण मे तो यही दिखेगा जो मै हूॅ, जो मेरा प्राणतत्त्व है, जो मेरा आभामडल या ऑरो है, जो मेरे जीवन की वास्तविकता है, जिसके चलते मै जीवित हूॅ, जो मुझे 'शिव' की तरह पुजाता है, और जिसके निकल जाने पर मैं 'शव' भर रह जाता हूॅ। वह तत्व इस दर्पण से नहीं देखा जा सकता।

आज का युग तो कृष्ण लेश्या का ही युग है। व्यक्ति देह को ही सर्वस्व मान रहा है। सभी लोग देह के जन्म को जीवन और देह के अवसान को 'मृत्यु' समझ रहे हैं।

आखिर कृष्ण लेश्या की पहचान क्या है? 'क्रूरता' ही कृष्ण लेश्या की पहचान है, जहॉ व्यक्ति दूसरे को जड़मूल से ही उखाडना चाहता है।

महावीर ने एक छोटी सी बोध-कथा कही है। कहते हैं : एक जंगल से कुछ राहगीर गुजर रहे थे। राहगीरों की सख्या छ. थी। राहगीर जगल से गुजरते-गुजरते रास्ता भूल गए और उन्हे बड़े जोरों की प्यास और भूख लगी। रास्ते में उनको फलो से लदा हुआ वृक्ष नजर आया। उस वृक्ष को देखकर पहले राहगीर ने सोचा,

'मैं इस वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ लूँगा और वृक्ष के न केवल सारे फल, वरन् उसके पत्ते, तना और शाखाएँ भी अपने परिवार के लिए ले जाऊँगा।' दूसरे ने सोचा, 'मै इसका स्कन्ध काट लूँगा, ताकि इसकी लकड़ी और फल मेरे काम आ जाएँ लेकिन उसकी जड़ छोड़ दूँगा ताकि यह फिर से हरा-भरा हो जाए।'

तीसरे राहगीर ने वृक्ष को देखकर सोचा, 'मै इसकी शाखा काटूँगा, ताकि बहुत सारे फल मिल जाएँ।' चौथे ने सोचा, 'मै इसकी उपशाखा ही काटूँगा ताकि भरपेट फल मिल जाएँ।' पाँचवे ने सोचा, 'मै केवल इस वृक्ष से फल ही तोडूँगा।' और अंतिम राहगीर ने सोचा, 'यह वृक्ष इतना फलो से लदा है, जरूर ही कुछ पके हुए फल नीचे गिरे होगे। मै वहाँ पहुँचकर उन नीचे गिरे हुए फलो से ही अपना पेट भर लूँगा।'

यह बोध-कथा जितनी छोटी है, उतनी ही अर्थपूर्ण है। इसके माध्यम से महावीर ने मनुष्य के मनोविज्ञान का सारा स्केच खींच दिया। यह कहानी, मात्र कहानी नहीं, वरन् मनुष्य के मन को दिगम्बर करने का सार्थक प्रयास है। कथा में पहला राहगीर वृक्ष को जड़मूल से अलग करने की सोचता है। आज दुनिया में इसी मानसिकता के लोग भरे पड़े है। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को जड़मूल से मिटाने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए दूसरों के प्राणों की आहुति देने को भी सहर्ष तैयार रहता है। उसमें इतनी क्रूरता आ गई है कि वह छोटी-सी तुच्छ बात पर गोली चला देता है।

अभी दो-चार दिन पहले ही अखबार मे पढ़ा था कि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को इसलिए चाकू मार दिया क्योंकि दूसरा व्यक्ति उसकी साइकिल का पक्चर सही नहीं कर पाया था। यह युग इतना अधिक कृष्ण लेश्या का युग है कि व्यक्ति के चित्त में क्रूरता और दुष्प्रवृत्तियाँ इतना घर कर गई हैं कि पंक्चर नहीं निकाल पाने पर ही चाकू घोप दिया जाता है। एक व्यक्ति फिल्म देखने गया। इन्टरवेल मे वह घूमने चला गया और जब वापिस आया तो उसने देखा कि उसकी सीट पर कोई दूसरा व्यक्ति बैठा है। उसने उस व्यक्ति को उठने का कहा। जब व्यक्ति नहीं उठा तो वह इतना क्रोधित हो गया कि उसने रिवॉल्वर निकाली और उस पर गोली चला दी।

व्यक्ति जड़मूल उखाड़ने में लगा है। तुम्हें फल की ज़रूरत है तो फल ही तोड़ो। पेड़ उखाड़ने की क्या जरूरत है? जो काम सुई से हो सकता है, वहाँ

तलवार क्यो चलाते हो। उग्रवाद, आतकवाद, हिसा और क्रूरता का मूल कारण कृष्ण लेश्या है। लोग धर्म के नाम पर जो क्रियाएँ करते है, सब ऊपर-ऊपर की हैं। जैसे कोई अंगीठी पर राख डाल दी जाए तो ऊपर से बुझी-बुझी लगती है, लेकिन जैसे ही हवा से राख उड़ती है, उससे अगारे प्रकट हो आते है।

ऐसे ही व्यक्ति के अन्दर कृष्ण लेश्या यानी क्रूरता के अंगारे भरे पडे है। जैसे ही राख उड़ी कि वह क्रूरता प्रकट हो आती है। तुम अभी कह दो कि मुसलमान खतरे में हैं या हिन्दू खतरे में हैं। फिर देखो, कैसी मारा-मारी शुरू होती है। तुम्हारा यह धर्म और धर्म के सभी रूप यहीं रह जाएँगे और लोग एक-दूसरे को मारने-काटने को तैयार हो जाएँगे। आजादी के समय हुए धार्मिक दगों की आग आज भी लोगों की आँखों में जीवित है। दगों के समय कहाँ चला जाता है 'तुम्हारा धार्मिकपन और तुम्हारे धर्मसंस्कार।' यह तो थोड़ा लोक-लिहाज और शासन-प्रशासन ने व्यक्ति को मर्यादित कर दिया है, वरना व्यक्ति तो इतना क्रूर है कि वह दूसरे व्यक्ति को उसी तरह काट दे, जिस सरलता से आप सब्जी काटते है।

अगर हम विश्व में घटित क्रूरतापूर्ण कार्यो पर नजर डाले तो एक नाम उभरता है—'निकोलाई चाऊसेश्को', जिसने हजारों रोमानियाई नागरिको का कत्लेआम करा दिया था। अगर हम स्टालिन के बर्बरतापूर्ण कार्यो पर ध्यान दे तो पाएँगे कि स्टालिन ने रूस में हजारों लोगों को मृत्यु के घाट उतार दिया था। और तो और, हिटलर का नाम याद करें तो उसने सारे विश्व में युद्ध का कोहराम मचा दिया था। उसने तो यहाँ तक कहा था कि जर्मनवासियो के लिए यहूदी कैसर की बीमारी के समान होते हैं। इसलिए जहाँ कहीं भी यहूदी दिखते, उन्हें मार दिया जाता था।

अगर तुम, इन्सान की क्रूरता का इतिहास पढ़ लो तो तुम्हें लगेगा कि इन्सान से अधिक क्रूर और बर्बर कोई पशु भी नहीं है। इतिहास भरा पड़ा है क्रूर व्यक्तियों के नामो से। चंगेज खॉ, नादिर शाह, तैमूर लंग और ऐसे ही अनेक क्रूर शासकों के उदाहरण भरे पड़े हैं। चगेज खॉ, जब नीलगिरी की घाटियो से गुजर रहा था तो एक हाथी का पाँव फिसला और वह खाई में जा गिरा। खाई में गिरने पर हाथी बहुत जोर से चिघाड़ा। उस चिंघाड़ को सुनकर चंगेज खॉ को असीम प्रमोद हुआ। हिसा में भी प्रमोद-भाव, हिंसा के ताण्डव से भी खुशी, कितनी क्रूरता है यह। चंगेज खॉ को वह चिंघाड़ सुनकर इतनी सुखानुभूति हुई कि उसने कहा, 'संगीत

तो मैने बहुत से सुने, पर ऐसा सुखदायक संगीत नहीं।' उसने सैनिको से कहा, 'तुम एक हाथी को और गिराओ।' इतिहास कहता है कि चंगेज खाँ ने आधे घण्टे के अन्दर सौ से भी अधिक हाथियो को नीलगिरी की घाटियों से नीचे गिरवा दिया था। यानी चिंघाड़ भी संगीत लगे, हिंसा में भी आनन्द आए, यह सब कृष्ण-लेश्या के लक्षण हैं।

ऐसा ही एक क्रूर व्यक्ति हुआ—तैमूर लंग, जिसने किसी गणिका को वापस अपने घर भिजवाने के लिए यह कहा, 'मेरी गणिका रात मे मशालो की रोशनी मे घर वापस नही जाएगी। रास्ते में पड़ने वाले जितने भी गाँव हैं, उनमे आग लगा दी जाए, ताकि उनकी रोशनी में वह वापस अपने घर पहुँचे।' और उसने वाकई आग लगवा दी।

तैमूर लंग ने दिल्ली के लाल किले के बाहर खड़े होकर केवल इस बात के लिए पन्द्रह हजार से अधिक व्यक्तियों को कत्ल करवा दिया था कि किसी सिरफिरे व्यक्ति ने उसके मुँह पर कंकड़ मार दिया था। किसी व्यक्ति की इतनी औकात कि वह तैमूर लंग के चेहरे पर एक कंकड़ भी मार सके!

अभी स्थानीय अखबार में छपे एक समाचार को किसी सज्जन ने मुझे पढने को कहा। समाचार यह था कि, एक हिन्दू व्यक्ति ने यह दावा किया है कि पूरे भारत में वही एक ऐसा हिन्दू है जिसने अब तक एक लाख पचास हजार बकरो को हलाल किया है और आज पैंसठ वर्ष की आयु में भी वह एक झटके मे बकरे को काट सकता है। आप ताज्जुब करंगे कि लोग हिंसा करने के बाद भी आनन्द उठा रहे हैं। हिंसा करने के बाद भी प्रायश्चित के कोई भाव नहीं हैं। ओह, कैसी सघन कृष्ण लेश्या है! व्यक्ति यह नही सोचता कि जब सुई से ही काम निकलता है तो तलवार क्यों चलाई जाए? क्यों दूसरो का इस कदर शोषण किया जाए कि वह अपने अस्तित्व को ही तरस जाए।

अब हम आते हैं, नील लेश्या पर जिसका रंग है नीला और जिसका सम्बन्ध है विषयलोलुपता से। मनुष्य के चित्त में जो विषयलोलुपता है, वह गृद्धता है, आसक्ति है और मूर्च्छा है। हिरण पकड़ा जाता है, मछली कब फँसती है, पतगा कब जलता है, हाथी कब पकड़ा जाता है, भँवरा पुष्पकोष मे कब बन्द हो जाता है? सबका जवाब एक ही है कि जब वे अपने इंद्रिय-विषयों के वश मे हो जाते हैं तो उन्हें असमय ही मौत को गले लगाना पड़ता है।

हिरण की तेज दौड को देखकर, क्या कोई कह सकता है कि हिरण को पकड़ा जा सकता है ? लेकिन जब कोई तानसेन अपनी तान छेडता है तो मधुर सगीत सुनने के लालच मे, अपनी कर्णेन्द्रिय के वशवर्ती होकर वह जाल मे फॅस जाता है। पतगा दीपक की ज्योति के रूप पर आकर्षित होकर अपने प्राण गॅवा देता है। चक्षुरीन्द्रिय उसके प्राण-हरण का कारण बनते हैं। मछली अपनी रसनेन्द्रिय के वश होकर कॉटे मे फॅस जाती है। भॅवरा फूलो के सुवास पर आकर्षित होकर पुष्पकोष मे बन्द हो जाता है और हाथी इसलिए फॅसता है क्योकि वह शरीर के भोग के प्रति लोलुप·होता है। हाथी को पकड़ने का एक ही तरीका है कि हथिनी को किसी गड्ढे में उतार दिया जाता है और हाथी उसे पाने के लिए दौड़ता है। हाथी, हथिनी को पाने के चक्कर मे उस गड्ढे मे गिर जाता है और पकड लिया जाता है।

जरा विचार करे कि जब यह सब प्राणी मात्र अपनी एक इन्द्रिय के वश मे होने के कारण अपने प्राणो से हाथ धो बैठते है, तो हम जो कि पॉचो इन्द्रियो मे लोलुप बने हुए हैं, पाँचों इन्द्रियों के विषय मे गृद्ध बने बैठे है तो हमारी क्या स्थिति होगी? इसलिए, मेरे प्रिय वत्स ! अपनी पॉचो इन्द्रियो का इतने विवेक के साथ प्रयोग करना कि जब भोजन करने बैठो तो भोजन के रस मे लोलुप मत बनना। जो भी थाली मे आ जाए, उसे मौनपूर्वक स्वीकार कर लेना। यह मत सोचना कि ककड़ी खारी लगेगी और भिण्डी मे नमक कम लगेगा। खाते समय हमेशा यह भावना रखना कि 'यह खाना मै नहीं खा रहा हूॅ, बल्कि मेरे अन्दर जो परमात्मा बैठा है, उसे मैं बड़े प्रेम से समर्पित कर रहा हॅू। उसे भोग लगा रहा हूॅ।'

क्या भगवान कभी यह सोचते है कि शबरी ने मुझे आधे जूठे बेर खिलाए? वे तो उन जूठे बेरो को भी सहज आनन्द के साथ खा लेते है।

शुक्र है कि तुम्हे तुम्हारी पत्नी जूठा नही खिलाती बल्कि बिना चखा हुआ खिला रही है। जो भी थाली में परोसा जाए, उसे बिना किसी प्रतिक्रिया के प्रेमपूर्वक स्वीकार कर ले। आजकल लोगो की आदत बन गई है कि 'यह भाता है और वह नहीं भाता।' यह स्वाद तो मात्र डेढ इच लम्बी जीभ का है। वहॉ से नीचे उतरने पर तो जो परिणाम कड़वी ककड़ी का होना है, वही परिणाम रसगुल्ले का भी होगा। इसलिए अपनी रसनेन्द्रिय को वश मे रखकर व्यक्ति को बड़े प्रेम से परोसा गया भोजन स्वीकार करना चाहिए। यदि वह भोजन मे लोलुप हो जाता है तो वह नील लेश्या मे फॅसा रह जाता है। यदि वह इसमे लोलुप नहीं होता तो वह तेजोलेश्या या पद्म लेश्या से जा जुड़ता है।

माना कि आपने विवाह किया है, आप दाम्पत्य जीवन जीते हैं, गृहस्थ का उपयोग करते हैं और आप अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि श्रमण-धर्म स्वीकार करे, पर आपने कभी अपनी विषयलोलुपता और गृद्धता पर भी विचार किया है? जरा सोचें कि पहले व्यक्ति जो आस्थाशील थे, वे महीने मे एक बार ही दाम्पत्य-जीवन का उपभोग करते थे। जब यह बात नही सध पाई तो लोगों मे यह विचार आया कि दूज, पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, पूनम आदि जो बड़ी पाँच तिथियाँ होती है, उनमें त्याग किया जाए, अर्थात् इन तिथियों पर दाम्पत्य-जीवन का उपभोग नहीं किया जाए। पर आज तो व्यक्ति को इन पाँच तिथियो का भी कोई बोध नहीं है। जानवर की तो कोई ऋतु होती है, इन्सान की तो कोई ऋतु भी नहीं होती। कभी-कभी लगता है कि कहीं आदमी जानवर तो नहीं बन गया है। लगता है कि जानवर तो हमसे अच्छे हैं, जबकि आदमी तो भोग-उपभोग के मामले में जानवर से भी गया गुजरा हो गया है।

जहाँ कहीं कोई विवेक ही नहीं है, वहाँ जीवन मे पद्म लेश्या का कोई भाव ही नहीं रहता। इतने विकार और इतनी विकृतियाँ ! क्या जन्म-जन्म से हम जिन विकृतियों को पोषित करते चले आए हैं, इस जन्म में भी उन्हें ही पोषित करते हुए चले जायेगे ? अगर तीस वर्ष का व्यक्ति विषयलोलुप हो तो कुछ हद तक बात समझ में आती है; पर यदि साठ वर्ष के वृद्ध की भी वही स्थिति है तो वह न तो अपना जीवन ही जी पाया और न वह अपनी मुक्ति के लिए कभी इंतजाम कर पायेगा। जैसे कि कोई गिद्ध उड़ता तो रहता है आकाश मे, पर उसकी नजर जमीन पर पड़े हुए किसी माँस के टुकड़े में होती है। यही स्थिति हमारी सत्तर या अस्सी वर्ष मे भी रहेगी, अगर हमारा बोध, हमारा विवेक नहीं जगा।

(सुकरात से जब पूछा गया कि 'प्रभो ! यदि हम गृहस्थ-जीवन का उपयोग करना चाहें तो आपकी शिक्षा क्या होगी?' सुकरात ने कहा—'तुम्हें मेरी तरफ से मात्र एक बार दाम्पत्य-जीवन के उपयोग करने की अनुमति है।' शिष्यों ने कहा—'भंते ! अगर एक बार मे मन न माने तो?' सुकरात ने कहा—'वर्ष में एक बार गृहस्थ-जीवन का उपभोग कर लेना।' शिष्यों ने फिर कहा—'प्रभु ! यदि इससे भी तृप्ति न हो, तो? सुकरात ने कहा—'माह में एक बार उपभोग करने की अनुमति है।' शिष्यों ने फिर प्रतिप्रश्न किया—'प्रभु ! अगर इससे भी मन को संतुष्टि नहीं मिले, तो?' सुकरात ने जवाब दिया—'तब अपने सिर पर कफन बाँधकर मृत्यु के

लिए हमेशा तैयार रहना। उस समय तुम लोगो के लिए मेरा कोई सन्देश नहीं रहेगा, क्योकि मेरे सदेश इन्सानो के लिए है, पशुओ के लिए नहीं।'

विषयलोलुपता ही पशुता है। यह मनुष्य का रजोगुण और तमोगुण है। देवत्व वहीं है, जहॉ व्यक्ति जीत चुका अपनी पशुता को, मुक्त हुआ विषयलोलुपता के पाश से, फंदे से। नील-लेश्या का पर्दा हटे, तो ही हम कापोत-लेश्या के पर्दे को हटा पाने में सफल हो पाऍगे।

मनुष्य की तीसरी लेश्या है कापोत लेश्या, जिसका प्रधान लक्षण है शोकाकुलता, चिन्ता। यही वह लेश्या है, जिसके चलते मनुष्य आर्त और रौद्र ध्यान करता है। चिंता ही वह रोग है, जो सौ रोगों को पैदा करने के लिए बीज का काम करता है। चिंता तो किसी कैंसर की तरह भयानक होती है। जो एक बार चिंता के रोग से घिर गया, वह सदा के लिए किसी चिकित्सक का मरीज़ हो गया। चिंता आते ही निराशा, अनुत्साह, तनाव, अवसाद जैसे मानसिक रोग पनपने लग जाते हैं। चिंता तो छुपी हुई चिता है। चिता भी काठ की नहीं, चावल की भूसी की। काठ तो त्वरित गति से जलता है, जलाता है, बुझ जाता है। चावल की भूसी धीरे-धीरे जलती है, फैलती है। भूसी आग को कई दिनों तक अपने में समेटे रख सकती है।

चिंता को हम लिक्विड ऑक्सीजन समझें। लिक्विड आदमी को जीने नहीं देती और ऑक्सीजन आदमी को मरने नहीं देता। यानी अधमरी हालत; न जीने जैसे रहे, न मरने जैसे। न रोने जैसे रहे, न कहने जैसे। भीतर ही भीतर घुटता है, घुन की तरह पिसता है।

चिंता और शोक दोनों एक-दूजे के लिए हैं, पर्याय ही समझें। जहॉ चिंता है, वहॉ शोक है; जहाँ शोक है, वहाँ चिंता है। एक चिंता पर विजय प्राप्त करने वाला अशोक हो जाता है। एक चिंता से शिकस्त खा बैठने वाला सदा शोक में तड़फता रहता है। व्यक्ति चाहे तो चिंता से बाहर निकल सकता है। वह तो जो होता है, हुआ है, उसे मात्र नियति या संयोग मान ले। जो संयोग भर रहा, उसके लिए स्वतः चिंता नहीं हागी। जब किसी संत पर युवक ने लाठी का प्रहार किया और लाठी उसके हाथ से छिटक पड़ी, तो संत ने उसे लौटाते हुए युवक से कहा, भाई जरा अपनी लाठी तो लेते जाओ।

किसी ने पूछा, आपको उस पर गुस्सा नहीं आया ? संत ने कहा, गुस्सा आया तो था, पर जैसे ही मेरी नजर ऊपर उठी, मैंने पाया कि मेरे सिर पर पेड़

है। मुझे लगा कि युवक ने लाठी मारी, इत्तफाक से अगर पेड़ की टहनी ही टूटकर मुझ पर गिर जाती, तो क्या मैं पेड़ को पीटने के लिए लाठी उठाता ? उसने कहा, वह तो संयोग ही होता यदि ऐसा होता।

संत ने कहा, प्रिय, मुझे लगा कि जब हम इसे एक संयोग मान सकते हैं, तो उसे क्यों नहीं।

सचमुच उसी क्षण शान्ति आ गई। चित्त का उद्वेलन विलीन हो गया। हम तो जो हो गया, उसके बारे में व्यर्थ का सोच-सोचकर, घुट-घुटकर क्यों अपने आपको पतला कर रहे हैं। अगर यों ही चिंता करते-करते मर गये, तो अवश्य किसी प्रेत-योनि में ही जाना पड़ेगा। 'जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है', जो इस बात को जिगर में उतार लेता है, वह सहज ही निश्चिंत रहता है। वह तब जान ही लेता है कि जो काम किसी सुई से निपट सकता है, उसके लिए कुल्हाडी का प्रयोग क्यों किया जाए। ऐसी बोध-दशा पाते ही जीवन में चौथी लेश्या का उदय होता है, जिसे हम कहते हैं तेजो लेश्या। यानी चित्त की वह अवस्था जो हमारे जीवन में तेजस्विता लाए, हमारे आभामंडल को निर्मल करे।

चौथी लेश्या है : तेजो लेश्या यानी विवेकशीलता। चित्त की विवेकपूर्ण अवस्था का नाम ही तेजोलेश्या है। यह शुभ लेश्या है। यह सच और झूठ, तमस् और प्रकाश में फर्क कर सकती है। विवेक तो स्वयं किसी दीपक का काम करता है। जैसे अंधे के लिए ऑख का और अंधेरे में रोशनी का महत्त्व है, जीवन में तेजो लेश्या का भी उतना ही महत्त्व है।

मैं विवेक को धर्म का बीज, अध्यात्म का दीप कहता हूँ। जीव में विवेक होना सदा प्रकाशित जीवन का स्वामी होना है। मैं विवेक को गुरु कहता हूॅ। और गुरुओं में कोई किन्तु-परन्तु लग सकता है, पर विवेक तो प्रत्यक्ष गुरु है, जो हमें सुझाता है क्या करना चाहिए और क्या नहीं। यह तो हंस-दृष्टि है। जो दूध और पानी को, सच और झूठ को अलग-अलग कर सके, वही दृष्टि तो हंस-दृष्टि कहलाती है। शेष तो सारी दृष्टियाँ काक-दृष्टि भर हैं।

यह विवेक की ही तो बात हुई कि पेड़ से उतने ही फल तोड़ने की बात हो, जितनी आवश्यकता है। जो आवश्यक है, उसे करना अथवा कर्म को कर्त्तव्य समझकर करना ही 'अकर्म' कहलाता है। गीता ने ऐसी स्थिति को अकर्म की संज्ञा दी है। सदा याद रखें विवेक ही धर्म का प्राण है, विवेक ही ज्ञान की चाबी है, विवेक

ही समस्त गुणों और शास्त्रो का सार है। ज्ञानी कहते हैं—हम विवेकपूर्वक चले, विवेकपूर्वक बोलें, विवेकपूर्वक खाएँ, विवेकपूर्वक सोएँ, विवेकपूर्वक कमाएँ, विवेकपूर्वक अन्य सारी गतिविधियो को सम्पादित करे। जिसके हाथ में विवेक का चिराग है, वह भव-वन में कभी भटक नहीं सकता। जीवन का रास्ता बनाने और तय करने का आधार स्वयं उसके पास है।

सच में, विवेक सधे, तो बात आगे बढे। अगली लेश्या है पद्म लेश्या। यह पंचम् लेश्या है। नाम से ही स्पष्ट है पद्म यानी कमल, कमल यानी निर्लिप्त। पद्म यानी सौम्यता। पद्म यानी सरलता। पद्म का रंग है गुलाबी। तेजो लेश्या का रंग अग्निरूपा, उगते सूरज का वर्ण। पर गुलाबी रग का तो सुकून ही अलग है। गुलाबी रंग आते ही चेहरे पर मुस्कान उभर आती है, हृदय प्रेम से भर जाता है। एक नया ही उत्साह और आनंद बरसने लगता है। पीला रंग प्रगति को प्रेरित करता है। विकास के लिए पीला रंग सहकारी होता है और प्रसन्नता के लिए गुलाबी रग। मेरे लिए श्वेत रंग के बाद अगर किसी का महत्त्व है तो वह गुलाबी रग है। तुम कभी हृदय में गुलाबी रंग का ध्यान करके देखो, तुम ताज्जुब करोगे कि तुम्हारे शोक, क्रूरता, लोलुपता वैसे ही लुप्त हो जाएँगे जैसे सूरज के उगने पर अंधेरा। गुलाबी रंग भर देगा हमें प्रेम से, प्रमोद से, आनन्द से, भाईचारे से।

पॉचवीं लेश्या है : पद्म लेश्या। इस लेश्या का लक्षण है सरलता-सौम्यता। किसी भी साधक के लिए सरलता किसी संजीवनी की तरह है। सरलता का विपरीत तत्त्व है कपटता/कुटिलता। छल-कपट, प्रपंच ये सब नील और कापोत लेश्या के लक्षण हैं, सरलता पद्म लेश्या का। सरलता ही साधक को ऊपर उठाती है कमल की तरह। गलती होना मानवीय स्वभाव है, पर हो चुकी गलती को सरलता से स्वीकार कर लेना कि मुझसे अमुक गलती हुई, भविष्य मे गलती न करने के लिए जागृत कर देता है।

बाइबिल ने कन्फेशन का बड़ा महत्त्व दिया है। कन्फेशन यानी आत्म-स्वीकृति। निष्कपट जीवन। सरलता स्वयं सौम्यता देती है, निरभिमानिता के फूल खिलाती है। जिनका जीवन सरल है, उन्हें समर्पण-भाव स्वतः सध जाता है। वे जान ही जाते हैं कि हर अकड़ अर्थहीन है। भीतर-बाहर, कथनी-करनी की एकरूपता ही जीवन की पवित्रता है। जो कहा जाए, वह अवश्य किया जाए और जो किया जाए, उसे कहने में पर्दा रखने की आवश्यकता नहीं है। पदम लेश्या तो देहरी का दीप है, जिसकी रोशनी भीतर तक उतरे और बाहर तक उसका आभामंडल प्रसारित रहे।

हम लें भगवान ईसा मसीह का ही एक प्यारा प्रसंग। कहते हैं कि जब जीसस को सलीब पर चढ़ाया जाने वाला था, तो सलीब पर चढ़ने से पहले उन्होंने अपने शिष्यों को एकत्रित किया। उन्होंने अपने छोटे शिष्यों के पाँव धोए, अपने बालों से पोंछा और आदरपूर्वक उनके पाँवों को चूमा। बड़ा प्यारा प्रसंग है यह। जीसस की सरलता, विनम्रता, निरभिमानिता अभिनन्दनीय है। इस सरलता की सुखानुभूति का आनन्द वही जान सकता है, जिसने ऐसा किया है। शिष्यों के पाँव धोना और उन्हें चूमना ! अद्‌भुत ! यह पद्‌म लेश्या को जीने का एक सहज उदाहरण है। यह आनन्द लेने जैसा है। सारा अभिमान/ईगो विगलित हो जाएगा। धन्य हैं वे जो इससे भी बढ़कर अपने आँसुओं से पाँवों का प्रक्षालन कर जाया करते हैं। उनके आँसू मोती बन जाते हैं, प्रभात के, प्रार्थना के अनुपम पुष्प बन जाते हैं।

अन्तिम लेश्या है शुक्ल लेश्या। चित्त की सर्वाधिक निर्मल-विमल अवस्था। शुक्ल लेश्या का लक्षण है शान्ति, समदर्शिता....परम संतुष्टि...हर हाल में आनन्द दशा। यही वह चरण है जिसकी पराकाष्ठा व्यक्ति को कैवल्य तक, बुद्धत्व तक पहुँचाती है। यह वह अवस्था है जहाँ जीवन के आकाश में पूर्णिमा का चाँद साकार हो आता है, सूरज आरती उतारने लगता है और फूल अपनी सनातन सौरभ बिखेर देता है।

हम अपनी यात्रा शुरू करते हैं विवेक से, बोध से। भला जब मिट्टी में फूल खिलाए जा सकते हैं, तो जीवन में क्यों नहीं। चित्त की दशाएँ बदलें। वे ही लोग शाश्वत सुख के स्वामी बन सकते हैं जो निर्मल हैं, निष्पाप हैं, निर्विकार हैं। हम अपनी हर वृत्ति के प्रति सजग रहें। वे बीज न बोएँ, जिनकी फसलें काटते वक्त संत्रास का अनुभव हो। हम सदा उल्लसित रहें, सरल रहें, सौम्य रहें, पवित्रता का प्रदीप थामे रहें। अगर ऐसा हुआ तो मंजिल तक जाना नहीं पड़ेगा, मंजिल हमारे पास आएगी। ज्यों-ज्यों हमारे कदम सूरज की ओर बढ़ेंगे, सूरज हमारी ओर बढ़ता चला आएगा। एक दिन न हम होंगे न सूरज, केवल होगा प्रकाश, अनन्त प्रकाश।

❑

ध्यान और जीवन का स्वर्ग

संबोधि-ध्यान का उद्देश्य मनुष्य की उच्च मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति और क्षमताओं का विकास करना है। जब कोई साधक सबोधि-ध्यान के पवित्र मार्ग से जीवन के समुन्नयन के विकास- पथ पर चलता है, तो उसे रास्ते में कई-कई स्वागतद्वार और तोरणद्वार मिलते है--मन की शाति के तोरणद्वार, प्रज्ञा की प्रखरता के स्वागतद्वार और स्वय मे समाहित त्रैकालिक सत्य 'आत्मा' की अनुभूति के अभिनदनद्वार ! कई-कई अनुभव घटित होते है और व्यक्ति धीरे-धीरे उस सत्य से मुखातिब होता है जो सत्य उसके जन्म और मृत्यु के बावजूद अमर और अखडित रहता है।

अब तक आदमी ने अपने जीवन मे कई व्रत, जप, तप, क्रियाएँ स्वीकार की हैं, लेकिन कोई भी चीज आदमी के जीवन के साथ आत्मसात नहीं हो पाई, क्योकि आदमी जीवन के साथ धर्म के प्रयोगों को नहीं जोड पाया। धर्म अगर व्यक्ति को अपने जीवन के रूपान्तरण के लिए प्रयोग का कोई मार्ग दे दे, तो वह धर्म धर्म नहीं रहता। तब वह धर्म जीवन का विज्ञान बन जाता है। विज्ञान जो कि प्रयोगधर्मी है, अगर धर्म से च्युत, धर्म से स्खलित हो जाए तो वह विज्ञान नहीं रहता। तब वह विज्ञान आदमी के लिए जीने का एक साधनमात्र बन जाता है।

व्यक्ति ने अपने जीवन में प्रतिदिन प्रार्थनाएँ तो बहुत दोहराई है, लेकिन वह मन के मदिर मे परमात्मा की वह छवि आसीन नहीं कर पाया। भले ही सामायिक

करते-करते आसन घिस चुके है, लेकिन आदमी के अन्तर्हृदय मे समता अवतरित नहीं हो पाई है। क्या केवल प्रतिक्रमण के पाठो को पढ़ लेना तोतारटंत नहीं कहलाएगी? हाँ, तोते के लिए कहा जाता है कि बिल्ली आए, तो तोते उड़ जाना, लेकिन बिल्ली आकर तोते का गला घोट ही देती है और तोता उड़ नहीं पाता। आदमी प्रतिक्रमण के पापो को दोहरा बैठा, मगर पापो से उसकी विरति नहीं हो पाई।

हम जिन तीर्थकरो की बात करते हैं, जिन बुद्धों पर परिचर्चा करते हैं, उनके जीवन की खासियत रही, तो वह एक ही रही और वह है ध्यान की। अगर इस एक खासियत को निकाल दो, तो उसके बाद तो एक आम आदमी और तीर्थकर में कोई फर्क ही नहीं रह जाता। वह खास अस्मिता, साधना का वह मूल मेरुदण्ड मनुष्य के जीवन के लिए अपनाया जाने वाला ध्यान है। माना कि बाग चाहे जो कोई भी लगा सकता है, लेकिन खास बात यह है कि वह फूल किस उपवन मे खिलता है कि जिसके रंग तीनो लोकों की याद दिलाते है, जिसकी गंध पाने को देवता भी ललचाते हैं। वह फूल जीवन का फूल है, साक्षित्व और ध्यान का फूल है।

जीवन की कौन-सी बातें बुरी है, यह एक छोटा-सा बालक भी बता सकता है। गाली निकालना बुरी बात है, पर इतनी-सी बात कह लेने भर से भला किसी की भड़ाँस निकली है? जब तक आदमी योग्य तरीके से अपने अन्तर्मन मे प्रवेश न करेगा, जहॉ पर गालियो की, संस्कारो की, विकृतियो की जड़ें जमी हुई है, तब तक वे जड़े हिल नहीं पाएँगी, विकृतियो की, संस्कारों की पुनरावृत्ति होती रहेगी। आदमी स्वर्ग के सुरों को ईजाद कर सकता है, अपने अन्तर्मन मे पल रही नरक की आग को बुझा सकता है। यह प्रयोग हजारों साधको पर हजारो बार किया गया है। आदमी इस प्रयोग को स्वीकार कर ले तो उसके अन्तर्मन की जड़ो को हिलाया जा सकता है।

जब सन्यस्त जीवन स्वीकार किया और धर्म के द्वारा स्थापित किये गए मापदंडो को स्वीकार किया, तो लगा कि नही, वह बात नही बन पाई है, जिसका मै आकांक्षी था। तब मैने हिमालय की कदराओ की यात्रा की और वहाँ पर रहने वाले योगीजनों से, महर्षियो से मुलाकात हुई। तब जीवन का जो प्रथम मार्ग बना, वह अंतिम मार्ग सिद्ध हुआ। वह ध्यान का मार्ग रहा। यही एक ऐसा मार्ग है कि जिससे व्यक्ति अपने अन्तर्मन को निर्मल कर सकता है, स्वयं निर्मल और शान्त

चित्त का स्वामी बन सकता है। कोई भी आदमी जो मद से मद-बुद्धि ही क्यो न हो, केवल उसके साथ तीन महीने के प्रयोग कर लिये जाएँ तो चमत्कार पाओगे। उसके मस्तिष्क के ज्ञान-ततु स्वतः जागृत और सक्रिय हो उठेगे।

विश्व मे आतकवाद चल रहा है, उग्रवाद चल रहा है, इसलिए कि उन लोगो को अपने जीवन को बदलने के नुस्खे पता नहीं है। हम कारागारों मे जाकर कैदियो पर ध्यान के प्रयोगो की आजमाइश करते है, तो सात दिन का वह शिविर उनके जीवन की दिशा बदल देता है, उनके हृदय को एक शुकून देता है। वे अपने किये हुए के प्रायश्चित से भर जाते है और नये भविष्य के लिए, नये जीवन के लिए कृतसकल्प हो जाते है। जीवन को बदला जा सकता है। मिट्टी मे से मूर्ति को पैदा किया जा सकता है। जिसे हम गंदगी कहते है अगर उसे खाद मे बदल दिया जाए तो उससे सुगध को जन्म दिया जा सकता है, तो फिर आदमी के जीवन को कैसे नहीं बदला जा सकता। बस, गहरा सकल्प चाहिए। चूँकि जीवन का रूपातरण हो सकता है, जीवन के व्यवहार को बदला जा सकता है, धाराओ को बदला जा सकता है, इसीलिए कहता हूँ आदमी चाहे तो भीतर के नरक को मिटा सकता है, जीवन में स्वर्ग के स्वर दे सकता है।

जो बॉस लड़ने-लड़ाने के काम मे लिये जाते हैं, अगर उनमे सुरो को भरना आ जाए, तो वे बॉस नहीं रहते। वे बॉस जीवन की बॉसुरी बन जाते है। बॉस की हर पोंगरी मे सगीत का अपरिमित सौदर्य समाया हुआ है। विश्वास न हो तो अपने जीवन पर प्रयोग करके देख लो, पता चल जाएगा कि जीवन कितना सगीतपूर्ण है, आनदमय है, सौदर्य भरा है। हमारा जीवन बॉसुरी क्यों नहीं बन पाया ? इसलिए कि बॉस की गॉठें, ग्रंथियॉ बाधक बन रही है। जीवन से गॉठें हटें, तो कोई बात बने। आनन्द का निर्झर फूटे। बॉस मे लगी हुई गॉठों को कि जिनको हमने अपने जीवन मे और ज्यादा कसा है, ऐसी गॉठो को कि जिनको हम जन्म-जन्म से बॉधते और कसते चले आए हैं, आज भी हममें उन गॉठो को खोलने की ललक नही, वरन् और ज्यादा कस रहे है।

कहते हैं कि एक बार भगवान अपने शिष्यो के बीच पहुँचे। उनके हाथ में कपडे का एक टुकडा था, रुमाल था। भगवान आये और अपने आसन पर बैठ गए। उन्होने रुमाल को लिया और एक गॉठ बॉधी, फिर दूसरी गॉठ बॉधी, तीसरी-चौथी-पॉचवीं गॉठ बॉधी। फिर अपने शिष्य से मुखातिब हुए—'वत्स, क्या तुम मुझे बता सकते हो कि इस रुमाल मे और उस रुमाल मे क्या है?'

भगवान की बात सुनकर शिष्यो ने कहा—'भंते, रुमाल तो वही है, लेकिन इसके बावजूद दोनो में फर्क आ गया है। फर्क यह है कि इसमे गॉठे लग चुकी हैं।' भगवान ने कहा—'तो फिर यह रुमाल कैसे पूर्व अवस्था में आए; कैसे इसका शून्य साकार हो?' शिष्यों ने कहा—'भंते, इसकी गाँठों को खोल दिया जाए तो....।' भगवान ने रुमाल को लिया और गाँठो को कसने लगे। शिष्यो ने विस्मयपूर्वक देखा और कहा—'भगवान्, आप यह क्या कर रहे है? इससे तो गॉठे और सूक्ष्म हो जाएँगी, मजबूत हो जाऍगी।'

भगवान ने शिष्यों से पूछा—'तुम्हीं बताओ, मै इन गाँठो को खोलने के लिए क्या करूँ? शिष्य बोले—'प्रभु, अगर गाँठें खोलनी है, तो पहले मुझे गाँठो वाला यह रुमाल दें, ताकि मै इसकी गाँठो को ध्यान से देख सकूँ और यह जान सकॅू कि ये गाँठे लगी कैसे हैं?'

आदमी जैसे ही ध्यान से अपनी गाँठो को देख लेता है, आदमी को गाँठो से मुक्त होने का मार्ग मिल जाता है। जब तक उन गाँठों को गाँठो के रूप में न समझोगे, ग्रंथि को न जानोगे, तो निर्ग्रन्थ नहीं हुआ जा सकता। पहले जब मैं किताबें पढ़ा करता था तो, मुझे विनोबा की एक बात छू गई, आत्मा को लग गई। विनोबा ने कहा था—'मित्र, अच्छा होगा एक बार अपनी किताबो पर और अपने ज्ञान पर अपरिग्रह की कैची चला दो।' उस अपरिग्रह को आत्मसात करने के लिए ग्रंथ से मुक्त हुआ और भीतर के बोझ से मुक्त होने के लिए भीतर की गाँठों को समझा और सही तौर पर निर्ग्रन्थ बना।

गाँठे खुल जाऍ तो बाँस, बाँस न रहेगा, बाँसुरी बन जाएगा। अगर भीतर में जल रही क्रोध की आग शांत हो जाए, विकार का दलदल सूख जाए तो जो जीवन आज नरक बना है, हमारी अपनी ही समझ से स्वर्ग बन सकता है। मैं चाहूँगा कि क्या आदमी मरकर स्वर्ग पाना चाहेगा ? मरने के बाद क्या होगा, मैं नही जानता; किसकी क्या गति-सद्गति-दुर्गति होगी,कहा नहीं जा सकता। यह तो आदमी की आत्मा ही उसकी साक्षी बन सकती है। स्वर्ग आज है, अभी है और अभी पाया जा सकता है—सुख मे भी, दुःख में भी, अमीरी मे भी, गरीबी में भी। तुम स्वयं को बदल दो, तुम्हारे लिए संसार बदल जाएगा। तुम प्रसन्न हृदय से संसार को निहारोगे तो संसार तुम्हें स्वर्ग दिखाई देगा। अगर खिन्न-विपन्न हृदय

से संसार को देखोगे, तो ससार तुम्हे नरक दिखाई देगा, एक लावा-सा नजर आएगा। सब कुछ तुम्हारी दृष्टि पर निर्भर है। नजर बदल जाए, सोच सही हो जाए, तो नरक स्वर्ग में बदल सकता है। अन्तर-स्वरूप मे उतर कर दखें।

अन्तर्जगत की अपनी मस्ती है, अपना स्वाद है, अपनी सुवास है। जब हम अपने भीतर उतरते हैं, तो वहॉ न तो अपने मित्र को ले जाया जा सकता है, न शत्रु को ही। वहॉ तो तुम्हीं तुम्हारे मित्र हो। ध्यान की शुरुआत ही इस बात से होती है कि आदमी से एकाकीपन घटे। भीड़ के मनोविज्ञान से हटकर आदमी एकत्व के बोध में उतरे। जो बाहर हैं, उन्हे बाहर छोड़ जाए; जो भीतर है, उस भीतर में उतर जाए। वहॉ न मकान को ले जाना, न दुकान को; न जमीन को ले जाना, न जायदाद को। यहॉ तक कि मुझे भी मत ले जाना। अपने आपको चारो ओर से वैसे ही समेट लेना, जैसे सांझ के वक्त सूरज अपनी किरणो को अपनी आगोश में समेट लेता है; जैसे दिन भर जहॉ-तहॉ भटकता पछी शाम को अपने नीड़ में लौट आता है। जहॉ कही से चित्त का संबध बना हुआ है, चाहे वह रागमूलक है या द्वेषमूलक, उस हर संबंध से अपने आपको वीतराग बनाकर लौटा लाना, मगर ध्यान रहे वैरागी बनकर नहीं। अगर वैरागी बनाकर लाओगे तो फिर वही क्रियाकांड, वही जप-तप चलेगा। तुम्हारी उन दो-चार 'धार्मिक' क्रियाओ से रूपान्तरण घटित न हो पाएगा।

ध्यान का पहला सूत्र, पहला मार्ग यही है कि 'कस्तूरी कुंडल बसै', कि जिसकी हम तलाश करना चाहते है, वह कहीं ओर नहीं, हममें है, हमारे स्वयं के भीतर है। ध्यान ही तो धर्म की आत्मा है, उसका प्राण है; ध्यान ही धर्म का अमृत अनुष्ठान है। यह वह आधारशिला है जिस पर धर्म और अध्यात्म के, राम और कृष्ण के मंदिरों को खड़ा किया जा सकता है। ध्यान ही धर्म को जीवतता प्रदान करता है। बगैर ध्यान का धर्म बगैर सिर का शरीर है। अगर तुम्हे जीवन के फूल को खिलाना है, तो ध्यान को आत्मसात करो और इसके लिए पहला सूत्र और पहला मंत्र बनेगा—जिसको मै ढूँढ़ने निकला हूँ, वह मेरे पास है; वह मेरे स्वय के भीतर ही है।

एक बार एक बड़ी दिव्य प्रतिमा की पूजा के लिए हजारो लोग एकत्र हुए। मैं भी गया और प्रतिमा से पूछा—यह जानते हुए भी कि मनुष्य का सत्य स्वय

उसके पास है, फिर वह क्यों तुम्हे पूजने के लिए इतने दूर-दूर से आता है? प्रतिमा ने कहा—यह मनुष्य अपने सत्य को दूर जाकर पूजने का सदियों-सदियो से आदी रहा है। उसे सत्य अपने आप मे नजर नहीं आता। निश्चित रूप से मंदिर मे भगवान है, गुरुद्वारे मे गुरु है, मस्जिद मे खुदा है, मगर उसी के लिए, जिसके भीतर के मंदिर मे भगवान के दर्शन हैं। अपने भीतर भगवान को निहार लो, तो चाहे जहाँ चले जाओ, हर जगह तुम्हें भगवान दिखाई देंगे। उसके सामने जो भी मूर्ति आएगी, वह उसी की मूर्ति होगी। अगर वह कुछ खाएगा तो अपने भीतर रहने वाले भगवान को अर्घ्य चढ़ाएगा। वह बाजार जाएगा, तो उसका बाजार जाना भी मंदिर की परिक्रमा और प्रदक्षिणा होगी।

अपने स्वयं को न जान पाए; अपने सत्य को न पहचान पाए, इसीलिए औरों का सत्य, सत्य लगता है। स्वयं का सत्य अछूता रह जाता है। हम शास्त्र के सत्य को अपना सत्य मान बैठे। शास्त्र मे जो लिखा है, वह तो शब्द है। वे शब्द स्वयं 'सत्य' नहीं होते, सत्य को मात्र व्यक्त करने वाले होते हैं। सत्य को तो आत्मसात करना पड़ता है। शब्द से तो मार्गदर्शन मिलता है कि जैसे यह अंगुली दिखा दे कि वह रहा पंखा, वह रहा आसमान में सूरज और चाँद। अंगुली गौण है, मुख्य तो चाँद है। यात्रा चाँद की होनी चाहिए न कि अंगुली बनकर तुम रह जाओ। ध्यान स्वय में उतरने का उपक्रम है, स्वय की ही अंतर्यात्रा है, अपने भीतर रहने वाले मंदिर की। इसलिए बड़े प्यार से, बड़े धैर्य से, बड़े पुलक भाव से हम अपने अन्तर्हृदय की अंतर्यात्रा करे।

ध्यान के दौरान अगर चित्त में कोई विचार-विकृति उठे, पत्नी या पति याद आ जाए तो घबराइएगा नही, वह हमारा ही दमित मन जाग्रत हो रहा है, अचेतन मन आपसे मुख़ातिब हो रहा है। बड़े प्रेम से उसको पढ़िएगा कि हमारे भीतर क्या है? बाहर से जो आप दिखाई दे रहे है, वह तो आपका पब्लिक फेस है, सार्वजनिक चेहरा है। पब्लिक फेस सबके अच्छे से अच्छे ही होते हैं। रंगा काला है तो पावडर लगा लेगे, होठ काले हैं तो लिपस्टिक लगा लेगे, बाल उड़ चले है, तो विग लगा लेंगे.... हर आदमी पब्लिक फेस को अच्छा प्रस्तुत करता है। लेकिन अब इस पब्लिक फेस के पार जाना होगा, हर मुखौटे को उखाड़ फेंकना होगा और पहचानना होगा अपने आपको कि हाँ, मै यह हूँ।

व्यक्ति स्वय को पहचाने। अपने भीतर यह बात बहुत बार कह चुके कि मै इसान, हम इंसान; लेकिन नही, हम तो चडकौशिक हैं। हमारे भीतर क्रोध का उफान है, क्रोध का सर्पराज हमारे भीतर फुफकार मार रहा है। हम बाहर से इसान हो गये तो क्या हुआ, हमारे भीतर तो कोई सर्पराज बैठा हुआ है। इस ध्यान को वही आत्मसात कर सकेगा, वही इसके परिणामो तक पहुॅच सकेगा जो बडी ईमानदारी से अपने से मुख़ातिब होगा। जैसे हम औरो को देखते है, वैसे ही स्वय को देखना है। स्वय की चौकसी करने का नाम ही ध्यान है।

न कोई क्रिया, न कोई प्रतिक्रिया ! जैसा भीतर उठे साक्षी-भाव के साथ, सबुद्ध चेतना के साथ तुम उसे निहारते रहो तो ताज्जुब करोगे कि जब कोई आदमी आकाश को निहारना शुरू करता है तो सबसे पहले बदलियॉ दिखाई देती है, उमडते-घुमड़ते बादल दिखाई देते है, लेकिन जैसे-जैसे आदमी द्रष्टा-भाव से आकाश को निहारता चला जाए तो वह आश्चर्य करेगा कि बादल अपने आप छॅट गये, उसके साथ आकाश आत्मसात हो गया। धीरे-धीरे आकाश भी खो गया और शून्य साकार हो गया। इसी तरह अगर फूलो को निहारो तो लगेगा कि पहले तो फूल दिखाई दे रहा है, लेकिन धीरे-धीरे पाओगे कि फूल अपने आप ही लुप्त होता जा रहा है और हम स्वय ही फूल बनते जा रहे है।

कोई आदमी सागर के किनारे खड़ा होकर लहरो को देखे, ठीक वैसे ही हमे अपने भीतर उतरकर विचार, विकल्प और सवेदनाओ को अपने से अलग देखना है। पहले देखना होता है, फिर देखते-देखते वे स्वयं ही शिथिल और शात हो जाते हैं और तब केवल शून्य बचता है, भीतर की शाति बचती है। जहॉ चित्त के विसर्जित हो जाने के बाद स्वय के भी जिस शून्य का अनुभव होता है, जिस स्वरूप का ज्ञान होता है, उसी का नाम आत्मज्ञान है। तब केवल सबुद्ध दशा बचती है। अगर कोई साधक ईमानदारीपूर्वक अपनी अन्तर्यात्रा के लिए समर्पित होता है, तो निश्चित तौर पर वह आत्मज्ञान की रोशनी को उपलब्ध कर सकता है। केवल एक साक्षी-भाव चाहिए, बाकी सत्य स्वयं के पास है।

साक्षी-भाव/द्रष्टा-भाव/सजगता, यह ध्यान की आत्मा है, मूल गुर है। अगर घर मे झाडू लगा रहे है या पौछा, बहुत सजगता से लगाना। झाडू लगाते समय भी हमारी जागरूकता हमारी अन्तर्वृत्तियों के प्रति बनी हुई रहे। रात को सो रहे हैं, तब भी सजगता बनी हुई रहे। उठो, तब भी पहली सजगता स्वय के

अन्तर्मन के प्रति हो। निश्चेष्ट हो जाओ शरीर से, सोचने से। कुछ भी इधर-उधर का मत सोचो। जिस तरह से एक बंद कमरे मे, जहाँ हवा का आवागमन नहीं है, एक दीप निष्कम्प जलता है; कि जैसे कोई सरोवर हो, जहाँ हवा न उठे, मन वैसा ही शांत हो जाए।

सागर में लहरें उठती नज़र आती है। मगर ताज्जुब की बात यह है कि लहरे सागर के ऊपर-ऊपर उठती है, भीतर में तो सागर शांत ही रहता है। इसी तरह स्वयं के भीतर को सौ प्रतिशत मानें, तो उसका नब्बे प्रतिशत चित्त ही भीतर मे सहज शांत रहता है और शेष दस प्रतिशत मे तूफान उठते है।

प्रिय संत हुए जिनका नाम रहा बालशेम। उनका केवल एक ही काम था कि वे रात के अंधेरे मे अपनी कुटिया से निकलते और वहाँ से तीन-चार किलोमीटर दूर बहती एक नदिया के किनारे जाकर ध्यान करते। उनकी आधी रात वही बीतती। रास्ते में एक अमीर आदमी का महल पड़ता था, जहाँ पर एक चौकीदार पहरा देता था। चौकीदार भी बड़ा ताज्जुब करता कि यह संत रोज रात को यहाँ से जाता है। आखिर यह करता क्या होगा? कहीं यह मौके की ताक में तो नहीं है कि मेरी आँख लग जाए और वह महल के भीतर प्रवेश कर जाए। वह व्यक्ति जितनी पहरेदारी महल की करता था, उससे ज्यादा पहरेदारी बालशेम की करने लगा।

अब तो चौकीदार दबे पाँव संत का पीछा करने लगा। एक दिन उसने संत को महल के भीतर रोक ही लिया और कहा—'तुम नदिया की तरफ जाओ, उससे पहले मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।' संत मुस्कुराये और कहा—'पूछो, तुम क्या पूछना चाहते हो?' पहरेदार ने कहा—'मैं पूछना चाहता हूँ कि तुम हो कौन?' संत ने कहा—'मैं तुम्हारे प्रश्न का जवाब दूँ, उसके पहले मै तुमसे प्रश्न करता हूँ कि तुम कौन हो?' उस आदमी ने कहा—'मैं पहरेदार हूँ।' यह सुनकर संत की आँखों में चमक आ गई। वे बोले—'जब तुमने प्रश्न किया कि मैं कौन हूँ, तो मै स्वय ऊहापोह में था। अब मुझे पता चल गया है कि मैं भी एक पहरेदार ही हूँ।'

संत की बात सुनकर आदमी ने कहा—'तुम अगर पहरेदार हो, तो बताओ तुम किसका पहरा देते हो?' बालशेम ने कहा—'तुम बाहर का पहरा देते हो, मैं भीतर का पहरा देता हूँ।' पहरेदार ने कहा—'मैं अगर काम करता हूँ, तो मुझे तनख्वाह मिलती है। आपको क्या मिलता है?' बालशेम ने कहा—'तुम्हें जो एक

महीने मे जितना मिलता है, उससे कहीं बढ़कर मुझे पल भर मे मिल जाता है। उसे पाकर मैं कृतपुण्य और अभिभूत हो जाता हूँ। एक पल में ही मुझे तो सारे अस्तित्व का उपहार मिल जाया करता है।'

सत बालशेम के हृदय से उठने वाली शब्दो की हिलोर पहरेदार की अतश्चेतना को बदल रही थी। उसने पूछा—'तो क्या मैं भी यह पहरा लगा सकता हूँ?' बालशेम ने कहा—'अवश्य लगा सकते हो। तुम तो अभ्यस्त हो, केवल दिशा को बदलना है। अब तक बाहर का पहरा लगाते रहे थे, अब भीतर का पहरा लगाना है।',

आदमी अनुपश्यना करे, स्वय को देखे। भीतर उठने वाली लहरो से अलग होकर लहरों का अवलोकन करना है। पर्दे पर चलती फिल्म की तरह देखना है मन को और मन की पर्यायों को। फिल्म के साथ एकाकार न हों। एकाकार हो गए तो तुम द्रष्टा न रहे, स्वयं दृश्य बन गये। अगर दृश्य दृश्य बना रहा और दर्शक दर्शक, तो दृश्य आएँगे और बिखर जाएँगे। दृश्य विसर्जित हो जाएगा और द्रष्टा साकार हो उठेगा। तब नतीजा यह निकलेगा कि विचार और विकल्प तो उठेंगे; वृत्तियाँ और सस्कार तो उठेगे, मगर वे तुम्हे प्रभावित नहीं कर पाएँगे।

देखने वाले को देखने का नाम ही ध्यान है। यही झेन फकीरों की 'पहरेदारी' है। शरीर है, शरीर को अपने से अलग देखो। अगर तुमने अपनी पलके झुका ली हैं, ध्यान में उतर गये हो, तो तुम्हारा द्रष्टा-भाव यहाँ है। यहाँ उठ रही सवेदना को अपने से अलग जानो। वह संवेदना एक-दो पल के लिए खुजलाहट पैदा करेगी, लेकिन ताज्जुब करोगे कि फिर वही संवेदना कहाँ जाकर विलीन हो जाती है, पता भी न चलेगा। जिसका उदय होता है, उसका विलय भी। शरीर को देखो, शरीर में उठते गुणधर्मो को देखो और यह बोध गहरे उतरते जाने दो कि यह शरीर है और यह शरीर का गुण-धर्म। मैं शरीर का भी द्रष्टा और शरीर के गुण-धर्मो का भी।

'लोग कहते है कि उनके घुटने बहुत दर्द करते हैं, कमर इतना दर्द करती है कि वह असह्य है। इसका कारण यह है कि घुटनो मे अस्वस्थ वायु जाकर फँस चुकी है। मान लीजिए आपको क्रोध आया और आप क्रोध को प्रकट न कर पाए। ऐसे में उत्पन्न वह शक्ति, वह धारा शरीर मे ही कहीं जाकर प्रकट होगी। उस धारा को जहाँ भी थोडा अतराल, थोड़ा 'गैप' मिलता है, वहीं वह रुँध जाती है

और दर्द का आधार बन जाती है। हाथ पैर की संधियाँ ही इससे सर्वाधिक प्रभावित होती हैं। जब हम ध्यान के द्वारा शरीर की यात्रा करते हैं, तो हमारा गहरा ध्यान 'रेकी' बनकर उस दर्द को हटाने में बहुत कारगर होता है। कई-कई साधक इस अनुभव से गुजरे हैं।

इसलिए, पहला जागरण—पहला साक्षी-भाव चाहिए शरीर के प्रति, शरीर की संवेदनाओं के प्रति और दूसरी सजगता चाहिए अपने विचारों और विकल्पों के प्रति। शरीर स्थूल है, इसलिए पहले शरीर के गुणधर्मों के साथी होते हैं। जरूरी नहीं है कि तुम शरीर के प्रति, उसमें उठने वाली वेदना-संवेदना के प्रति ध्यान दो। तुम सीधे चित्त के साक्षी बन सकते हो। ज्यों-ज्यों देह-भाव/देह-राग शिथिल होता जाए, तुम स्वतः चित्त और मन के ही साक्षी बनोगे। चित्त के साक्षी बनो, तो वैसे ही जैसे सागर किनारे बैठकर लहरों का साथी हुआ जाता है। जैसे देखते-देखते लहरों से हम निरपेक्ष हो जाते हैं, ऐसे ही चित्त के संस्कारों से भी निरपेक्ष हो जाते हैं।

तीसरी जागरूकता चाहिए व्यक्ति की स्वयं की अनुभूतियों के प्रति, अपनी भाव-दशाओं के प्रति। जब आदमी इन तीनों अवस्थाओं में जाग्रत होता है तो चौथी चीज घटित होती है, जिसे पतंजलि ने तुरीय अवस्था कहा है। यह वह अवस्था है कि जहाँ न शरीर का भाव रहता है, न विचार रहता है; न अनुभूतियों और भावदशाओं की ऊहापोह रहती है। आदमी जब चौथी अवस्था पर पहुँचता है, जहाँ अखंड रस बरसता है, अपने आप भीतर में प्रकाश लौटकर आता है और आदमी स्वयं से मुख़ातिब होता है, अपनी आत्मा की अनुभूति अपने साथ करता है।

आप चाहे जो हों—व्यापारी, व्यवसायी, अधिकारी, वकील या इंजीनियर। महत्त्व इस बात का नहीं है कि आप कौनसी शिक्षा लेकर किस पद पर आसीन हुए। न हमें अपनी वणिक्-बुद्धि का उपयोग करना है, न सरकारी शिक्षा का ही। हमें उपयोग अपने आपका क़रना है। मन के साक्षी बनो। अपने आप यह साक्षिता और सजगता स्वयं की अन्तश्चेतना के लिए क्रांति और सहज तथा धर्म का आधार बनेगी। अंत मे हम एक प्यारी-सी घटना छू लेते हैं।

यह घटना जुड़ी हुई है अंगुलीमाल के साथ। एक बार भगवान बुद्ध गुजरते हैं एक जंगल से। उनसे कहा जाता है कि आप इस रास्ते से न जाएँ, क्योंकि इस

रास्ते पर एक भयानक रक्तपिपासु डाकू अंगुलीमाल रहता है। उस डाकू की यह प्रतिज्ञा है कि वह एक हजार लोगो के हाथो की अगुलियॉ काटकर देवी को अर्पित करेगा। अतः वह नौ सौ निन्यानवे लोगो की अगुलियाँ काट चुका है। उसे केवल एक ही आदमी की अंगुलियॉ चाहिए। हम नहीं चाहते कि वह अतिम आदमी आप बनें। भगवान मुस्कुराये और कहा- अगर किसी आदमी को किसी एक की जरूरत है, तो क्यो न वह एक मै ही बन जाऊॅ? बुद्ध उस जंगल की ओर बढ गए।

भगवान बुद्ध जगल मे पहुँचे। देखा कि अंगुलीमाल एक पहाड़ी की चोटी पर बैठा था। उसने चिल्लाकर कहा- यह किस आदमी की मति मारी गई है, जो साधु वेश मे यहॉ तक आ पहॅुचा है। मुझे प्रतिज्ञा पूरी करनी है, पर मै नही चाहता कि अंतिम आदमी एक भिक्षु हो। उसने बुद्ध को वापस लौट जाने के लिए कहा, लेकिन बुद्ध ने एक भी शब्द न सुना। अंगुलीमाल ने कहा— 'भिक्षु, तुम वहीं पर रुक जाओ।' बुद्ध ने चलते-चलते हुए ही कहा—'वत्स, मै तो रुका हुआ हॅू, तुम रुक जाओ।'

बुद्ध की बात सुनते ही अंगुलीमाल दौड़ा चला आया और कहा- भिक्षु, क्या तुमने असत्य का प्रयोग किया ? बुद्ध ने कहा—'वत्स, मैं ठीक ही कह रहा हॅू। मैं तो अपने भीतर स्थिर हो चुका हूँ। मेरा मन तो सहज, शांत, सौम्य हो चुका है, तू हिसा के रास्ते पर चल रहा है। अगर हो सके तो तू अपने आपको रोक।' अगुलीमाल ने सुना-अनसुना कर दिया और तलवार ऊपर उठा ली। कहा—'भिक्षु, तुम मरने के लिए तैयार हो जाओ।' बुद्ध ने कहा—'तुम मुझे मारते हो? इससे पहले मेरा एक काम करो।' अगुलीमाल ने कहा—'क्या काम है?' बुद्ध ने कहा—'यह सामने जो पेड़ है, उसकी एक डाली तोड लाओ।' अगुलीमाल डाली तोड लाया।

बुद्ध ने अंगुलीमाल से कहा—'मेरा एक काम और कर दो। तुम इस डाली को वापस पेड़ से जोड़ आओ।' अगुलीमाल ने कहा—'काटना मेरे वश मे है, पर जोड़ना मेरे हाथ में नहीं है।' बुद्ध ने कहा—'जब जोडना तुम्हारे हाथ में नहीं है, तो तुमको काटने का अधिकार कैसे मिल गया? फिर भी तुम मुझे मारना चाहते हो तो यह इच्छा भी पूरी कर लो।' अगुलीमाल ने तलवार उठाई, पर तलवार चला न पाया। उसने तलवार अपनी जटाओं पर चला दी और डाकू से साधु वन गया।

अंगुलीमाल साधु वेश धारण कर बुद्ध के साथ बौद्ध विहार मे पहुँचा। दोपहर की बेला हुई, तो स्वयं सम्राट् बिंबिसार वहाँ पहुँचा और कहा—'भंते, क्या कल आपको भयंकर डाकू अंगुलीमाल मिला था?' भगवान ने कहा—'हाँ, मै उससे रू-ब-रू हुआ। वही अंगुलीमाल इस समय मेरी बगल मे बैठा है।' यह सुनकर सम्राट थर्रा उठा, मगर अंगुलीमाल को साधु-वेश में पाकर उसे सुखद आश्चर्य और संतोष हुआ। थोड़ी ही देर में शहर भर मे यह बात फैल गई कि डाकू अंगुलीमाल भिक्षु बन गया है।

अपराह्न मे अंगुलीमाल ने भगवान से कहा—'भंते, मैं आहार के लिए जाना चाहता हूँ।' बुद्ध ने कहा—'आज का दिन तुम्हारे लिए कसौटी है, उत्थान और पतन का दिन है। जाओ, बहुत सजग होकर जाना, अपने चित्त को किसी भी दूषित वृत्ति में बहने मत देना।' कहते हैं अंगुलीमाल निकल पड़ा। बस्ती में मिले वे ही लोग जिनके किसी भाई को, किसी के पिता को, किसी की माता को उसने मारा था, अंगुलियाँ काटी थीं। वे टूट पड़ते हैं उस पर। उसको पत्थरों से, भालों से, तीरों से लहूलुहान कर डालते हैं, मगर फिर भी वह सहज शांत बना रहता है।

वह लोगों को देखता है, लोगों के व्यवहार को देखता है। वह याद करता है उस बरताव को, जिसे उसने अपने द्वारा औरों के प्रति किया था। उसे लगा वही लौटकर आया है जैसा उसने अपने द्वारा किया है। उसने अपने चित्त को निहारा, लगा संवर-भाव/साक्षी-भाव प्रगाढ़ है। वह निर्जरा के पथ पर गतिशील हुआ। पत्थरों से उसका शरीर इतना आहत हो चुका था कि लहू बहते-बहते आखिर अंगुलीमाल वहीं जमीन पर गिर पड़ा। उसे लगा, जीवन की अन्तिम वेला आ चुकी है। उसने अपने पूर्व-कृत्यों का प्रायश्चित किया, जिन्होंने उसे पत्थर मारे, उनके प्रति क्षमा और करुणा की भावना आयी। उसकी आँखें आँसुओं से तर-बतर थीं कि तभी उसने पाया कि उसके माथे पर किसी के कोमल हाथों का स्पर्श हुआ है। उसने आँखें खोलीं। वह धन्य हुआ क्योंकि वे हाथ स्वयं बुद्ध के थे, करुणानिधान भगवान के थे। अंगुलीमाल ने कहा, भंते, आपने मुझ हतभागे पापी-हत्यारे पर कितनी महान कृपा की कि अपना पवित्र संत-जीवन देकर मुझे कृतार्थ किया। बुद्ध ने मुस्कुराते हुए इतना ही कहा, कहो वत्स ! इस समय तुम्हारे मन की क्या दशा है ?

अंगुलीमाल ने कहा, प्रभु ! केवल अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित-भाव है, लोगों के द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के लिए दया और करुणा की भावना है। आपने मुझे संन्यास दिया, उसके लिए कृतज्ञता भरा अहोभाव है। बस, मैं धन्य हुआ, प्रभु धन्य। और यों कहते हुए उसकी गर्दन लुढ़क गई। बुद्ध ने उसकी आत्मा को प्रणाम किया और कहा, अंगुलीमाल, तुम आत्मवान् हुए, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

तब भी कोई मुक्त हुआ, आज भी कोई मुक्त हो। तब भी किसी के जीवन में संबोधि की सुवास फूटी थी, आज भी किसी के जीवन में संबोधि की सौरभ महके। हम आत्मस्थ हों, मुक्त हों। स्वर्ग कहीं और नहीं, संबुद्ध-पुरुष के, शांत-पुरुष के, करुणा-पुरुष के इर्द-गिर्द रहता है। आओ पंख खोलें और मुक्त आकाश के स्वामी बनें।

❑

आत्म-विकास की गहरी भूमिकाएँ

दुनिया के समस्त धर्मो और उनके पवित्र पुरुषों द्वारा दिए सन्देशों में एक ही प्रधान सन्देश है कि हर प्राणी इतना उन्नत बने जितना स्वयं परमात्मा है। मनुष्य की उन्नति उस चरम सोपान तक हो, जहाँ पहुँचकर वह मुक्ति की चेतना का स्वामी बन सके, मुक्ति के आकाश में उड़ान भर सके। वह अपने जीवन में इतना आनन्द और सुकून आत्मसात् कर सके कि जीवन का हर क्षण उसके लिए आत्मोत्सव और महोत्सव बन जाए। उस आनन्द की चेतना का स्वामी बनने के लिए ही साधना का दिव्य मार्ग है।

साधनापथ के बारे में बातें करना अलग पहलू है, लेकिन जब हम ऐसे किसी व्यक्ति की साधना के अन्तर्-रहस्यों में उतरते हैं, जिसने साधना के उन कँटीले रास्तों को पार कर प्रकाशपूरित मंजिल को उपलब्ध किया है, तो बात कुछ अनेरी हो जाती है, मधुरिम और प्यारी हो जाती है।

साधना के रास्ते में उसके अपने 'मील के पत्थर' है। रास्ते में ऊँचाइयाँ ही नहीं आतीं, वरन् गहरी खाइयाँ भी साधक को डिगाने के लिए तैयार रहती है।

साधना का रास्ता जितना सुगम है, उतना दुर्गम भी है। मुक्ति की चेतना का स्वामी बनना जितना सरल है, उतना कठिन भी है। इस साधना के रास्ते में अवरोधक भी आते हैं, और चट्टाने भी; फूलों की सेजें भी आती हैं तो

कॉटेदार झाड़ियॉ भी; दर्रे और खाइयॉ भी आती है तो काई से भरे हुए विचलन के रास्ते भी।

साधना के रास्ते पर पता भी नहीं चलता कि कौन व्यक्ति भावदशा मे कब, कहॉ से कहॉ पहुँच जाता है। अगर किसी व्यक्ति को अपनी मुक्ति साधनी हो, तो वह गृहस्थ मे रहकर भी उसे साध सकता है। और यदि न साधनी हो तो वह संन्यस्त होकर भी घर-गृहस्थी और संसार का ताना-बाना बुनता रहता है। कौन व्यक्ति, किस वेश में, किस स्थिति तक पहुँचा हुआ है, यह कहा नहीं जा सकता। हो सकता है, यहॉ बैठा हुआ कोई व्यक्ति किसी वेश्यालय के बारे में सोच रहा है तथा कोई वेश्यालय मे बैठा हुआ व्यक्ति, 'चन्द्रप्रभ' के बारे मे चिन्तन कर रहा है।

यदि साधना को साधने की मानसिकता है, तो व्यक्ति के लिए वेश, नाम और स्थान गौण हो जाते हैं। अगर सधने की बात हो तो किसी इलायचीकुमार को रस्सी पर नृत्य करते हुए भी परम बोधि-लाभ अथवा आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यदि न सधने की बात हो तो कोई संन्यस्त-जीवन स्वीकार करके भी 'चण्डकौशिक' सर्प बन जाता है। गति को सुधारने का लक्ष्य है तो कोई 'मॉ मरुदेवी', हाथी के हौदे पर भी कैवल्य को आत्मसात् कर लेती है। वहीं यदि व्यक्ति लक्ष्य से विचलित हो जाए तो भगवान महावीर कहते है—'इन क्षणों मे यदि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की मृत्यु हो जाए तो उन्हे सातवीं नरक भी सुख से नही मिलेगी।'

आज साधना के रास्ते के बारे मे इसलिए कहना चाहता हूँ कि व्यक्ति स्वयं यह पहचान कर ले कि वह साधना के रास्ते में कहॉ और किस पड़ाव पर खड़ा है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि व्यक्ति ने स्वयं को महान् समझने की गलती कर ली हो, बावजूद इस सच्चाई के कि वह कीचड़ मे ही फॅसा हुआ है। कहीं ऐसा तो नहीं कि व्यक्ति ने स्वय को शिखर पर पहुँचा हुआ मान लिया हो, जबकि उसके कदम तलहटी का स्पर्श भी न कर पाये हों ? कहीं ऐसा तो नहीं कि व्यक्ति का 'पब्लिक फेस' तो बड़ा सुहावना, सुन्दर, आकर्षक और आदर्श हो, जबकि उसका 'प्राइवेट फेस', उसका अन्तरमन किसी गहन अंधकार मे डूबा हो ?

अपने आप को उन्नत और महान् मानने की गलती मनुष्य प्रायः कर जाता है, पर शायद ही कोई मनुष्य अपने प्रति ईमानदारी रखकर यह कहने का

दुस्साहस रखता हो कि 'हाँ, मेरे भीतर क्रोध है, मान है, काम मुझे पीड़ित करता है।' आदमी ने अब तक भले ही सौ-सौ बार रामायण और आगम का वाचन कर लिया हो, पर यह तो व्यक्ति ही जानता है कि उसके भीतर राम है या काम है, कृष्ण है या कंस है ? इसका साक्षी तो स्वयं व्यक्ति ही होगा।

साधना के रास्ते पर वही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है जो अपने जीवन के प्रति पूर्णतः ईमानदार हो। ऐसा व्यक्ति बेईमानी भी करता है तो ईमानदारी के साथ कहेगा कि- 'हाँ, मैं बेईमान हूँ' अथवा 'मुझसे बेईमानी हुई'। अगर उसका मन विकृत है, तो वह यह नहीं कहेगा कि 'मै ब्रह्मचारी हूँ', बल्कि कहेगा कि 'मैने व्रत तो स्वीकार कर लिया है, पर पापी मन अभी भी वासना के दलदल मे धँसा है।' मुक्ति तो उनके लिए होती है जो कि अपने जीवन के प्रति ईमानदार हैं।

यदि व्यक्ति अपने जीवन के प्रति ईमानदार है तो मैं साधना के जिन मील के पत्थरों से आपको रू-ब-रू करवाना चाहता हूँ, उन मील के पत्थरों से, मंगलमय कलशों से गुजर कर साधक मुक्ति की मंजिल को, परम आनन्द को, सच्चिदानन्द की सर्वोच्च अवस्था को उपलब्ध कर सकता है।

साधना के रास्ते में मील के जो पत्थर पड़ते हैं, उन्हें ही 'गुणस्थान' कहते हैं। मनुष्य की आत्मा की अलग-अलग अवस्था और अलग-अलग दशा होती है। आत्मा का एक स्वरूप वह होता है जिसे हम बहिरात्मा कहते हैं; दूसरा स्वरूप वह होता है जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं तथा तीसरा और सर्वोच्च रूप वह है जिसे हम परमात्मा के नाम से संबोधित करते हैं।

मैं तीन चरण ऐसे कहूँगा जिनका सम्बन्ध बहिरात्मा के साथ है, दो चरण ऐसे कहूँगा जिनका सम्बन्ध परमात्मा के साथ है तथा शेष सभी चरणों का सम्बन्ध अन्तरात्मा के साथ है।

साधक की जो पहली अन्धकारभरी अवस्था होती है, उसका नाम है— मिथ्यात्व अर्थात् ऐसी अन्धकारपूर्ण अवस्था जहाँ उसे सत्य की, रोशनी की एक झलक भी नज़र नहीं आती। आचार्य शंकर ने इस अवस्था को अज्ञान कहा, जबकि भगवान बुद्ध ने उसे अविद्या कहा। भीतर की यह ऐसी अवस्था है जिसमें यदि उसे धर्म की बात सुझाई जाए तो भी उसे वह उसी तरह अप्रिय लगती है, जिस प्रकार किसी ज्वरग्रस्त व्यक्ति को मिठाई अरुचिकर लगती है। यदि किसी

बुखारग्रस्त व्यक्ति को रसगुल्ला खिलाया जाए तो उसे वह नीरस और बेस्वाद लगता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि अविद्या और अज्ञान से आपूरित है, उसे बताये गए उपदेश और धर्म के सन्देश भी व्यर्थ हो जाते है।

वह व्यक्ति मिथ्याचारी होता है जो कि शरीर और आत्मा को अभिन्न मानता है। शरीर को शरीर जितना मूल्य दो, आत्मा को आत्मा जितना। जीवन न केवल शरीर ही है, न ही केवल आत्मा है। जीवन दोनो के सयोग का नाम है। यह तो एक सायोगिक घटना है, जिसे नदी-नाव का सयोग कहा जा सकता है। अगर हमने दोनों को एक ही मान लिया तो हमारी यह अहमन्यता ही हमारी मिथ्यादृष्टि की पोषक हो जाएगी।

शरीर और आत्मा दोनों एक-दूसरे से उसी प्रकार अलग होते हैं जिस प्रकार कार और उसका चालक, रथ और रथिक, घोड़ा और घुड़सवार अलग होते हैं। आप इसे ऐसे समझें कि जैसे एक नारियल होता है। उस पर चोटी अलग है, ठीकरी अलग है और अन्दर की गिरी अलग है। एक-दूसरे से जुड़े हुए होने के बावजूद वे एक-दूसरे से अलग रहते हैं। आखिर वह कौन-सा कारण है कि जिसके चलते ठीकरी, गिरी और इसकी जटा तीनो अलग होते हुए भी आपस मे जुडे हैं ? जवाब है, भीतर में रहने वाली आर्द्रता। वह पानी यदि सूख जाए तो गोला ठीकरी से अलग होकर बजने लग जाएगा। तीनों साथ-साथ हैं फिर भी तीनों अलग-अलग हैं। यह शरीर और आत्मा भी ऐसे ही हमारी आसक्ति, अविद्या और मिथ्यात्व के चलते एक नजर आते हैं, पर दोनों एक-दूसरे से अलग-अलग होते हैं।

वह तत्त्व क्या है जिसे हम प्राण-तत्त्व या चेतना कहते है। वह तत्त्व आत्मा, प्राण या चेतना कहलाती है, जिसके चलते यह शरीर चलता है और जिसके निकल जाने के बाद यह शरीर केवल कब्रिस्तान या श्मशान का पथिक भर रह जाता है। जिसके रहते ही तुम मॉ या पिता कहलाते हो और जिसके निकल जाने के बाद मॉ और पिता की भी अंत्येष्टि कर दी जाती है। हॉ, यह वह तत्त्व है जिसका बोध तुम्हें मृत्यु के दौर से गुजरने के बाद ही होता है। माना कि मृत्यु अब तक हम पर घटित न हुई है, इसलिए हम शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते है, पर अन्य किसी पर तो मृत्यु को हमने घटित होते देखा है न ! तब यह जान लेना

कि यह वह शरीर अथवा वह काया है, जिसको मै अपने हाथ से दियासलाई लगा रहा हूँ। वह था; वह तत्त्व जिसके रहते व्यक्ति, व्यक्ति था और जिसके निकल जाने से वह लाश मात्र रह गया है।

बहुत प्यारी घटना है। सदियो पहले एक राजकुमारी हुई, जिसका नाम था मल्लि। मल्लि विश्व की अप्रतिम सुन्दरी थी। जिस व्यक्ति ने उसकी सुंदरता की चर्चा सुनी, उसकी सुन्दरता की महक पाई, वह उसके साथ विवाह करने को लालायित हो उठा। राजा-महाराजाओं का जमाना था, जितना अधिक धन; उतनी अधिक महारानियों की कतार। उस मल्लि के साथ विवाह करने के लिए छः राजकुमार एक साथ उस नगरी को घेर कर खड़े हुए। सभी की एक ही इच्छा थी कि मल्लि के साथ हम विवाह करेंगे।

स्वयं मल्लि एवं उसके पिता के लिए यह समाचार बहुत दुःखद एवं आश्चर्यजनक था, क्योंकि पुत्री तो किसी एक को ही दी जा सकती थी, लेकिन सारे-के-सारे राजकुमार इतने सशक्त थे कि किसे मना करें और राज्य पर आक्रमण का न्यौता दें। अन्ततः मल्लि ने कहा, 'पिताजी! आप चिन्तित न हों। मैंने सभी राजकुमारों के लिए व्यवस्था कर ली है। कृपया आप सभी राजकुमारों को एक सन्देश भिजवा दें कि वे आज से एक महीने बाद एक ही दिन, एक ही समय पर यहाँ उपस्थित हो जाएँ। आप उन्हे यह सन्देश भी भिजवा दें कि मल्लि उन्हीं से ही विवाह करेगी।' पिता यह सुन चिन्तित हो उठे, तो पुत्री ने कहा कि आप मुझ पर विश्वास रखें।

समय बीता। एक महीने के बाद छहो राजकुमार आये। उन सबने अलग-अलग रास्तों से महल में प्रवेश किया। महल में प्रवेश कर राजकुमारों ने एक-दूसरे को देखा तो सोचने लगे कि हमे बेवकूफ बनाया गया है। हममें से प्रत्येक को यही कहा गया कि मल्लि उन्हीं से विवाह करेगी, लेकिन अब शक्ति का फैसला यहीं हो जाएगा। तभी सामने से एक पर्दा उठा और सामने राजकुमारी मल्लि थी। छहों उसे देख मंत्रमुग्ध हो गये, उसके रूप-लावण्य की तारीफ करने लगे और कामना करने लगे कि मल्लि का विवाह उन्हीं के साथ ही हो। अचानक सामने के दरवाजे से एक और मल्लि ने प्रवेश किया। राजकुमार आश्चर्यचकित थे कि असली मल्लि कौन-सी है ? जिसने प्रवेश किया, वह या जो राजकुमारी उनके

सामने खड़ी है, वह। तभी जिस मल्लि ने प्रवेश किया था, उसने वहाँ पर खड़ी हुई राजकुमारी के सिर पर लगा ढक्कन अलग कर दिया। वह असल मे राजकुमारी मल्लि की ही सोने की मूर्ति थी। ढक्कन उतारते ही चारो तरफ दुर्गन्ध फैलने लगी। राजकुमार गंध से अपनी नाक-भौ सिकोड़ने लगे। तभी राजकुमारी मल्लि ने कहा कि क्या हुआ तुम सभी को? जिस मल्लि की, मूर्ति को देखकर थोड़ी देर पहले तुम लोग इतने आनन्दित हो रहे थे, उसकी प्रशसा करते नहीं थकते थे, अब अपनी नाक को बन्द क्यों कर रहे हो?

मल्लि ने कहा—'इस एक महीने के दौरान मैंने जो भी भोजन किया, वही भोजन इस मूर्ति के उदर मे भी डाला है। जिस प्रकार इस मूर्ति मे डाला गया भोजन अन्ततः दुर्गन्ध मे परिणत हो गया है, उसी प्रकार इस मल्लि के शरीर मे डाला गया भोजन भी अन्ततः मल-मूत्र ही बन गया है। फिर भी क्या तुम इस गदगी से भरी हुई काया के प्रति इतने अधिक आसक्त और मूर्च्छित हो रहे हो?

'राजकुमारो, तुम जागृत होओ, शरीर या काया के प्रति अपनी आसक्ति और मूर्च्छा छोड़ो। आत्मवान् बनकर चिन्तन करो कि तुम किस सामर्थ्य के स्वामी हो। तुम्हें तो मुक्ति की चेतना का स्वामी बनना है, जबकि तुम काया के आकर्षण में फॅसकर संसार के स्वामी बनने मे लगे हो।' और तभी राजमहल मे एक क्रान्ति घटित हुई, न केवल एक राजकुमारी, वरन् छहो राजकुमार सन्यस्त हुए, दीक्षित हुए। जिसने भी जीवन का बोध पाया है वह व्यक्ति अपनी देह से अलग होने के पहले विदेह तत्त्व को आत्मसात् कर लेगा।

वह व्यक्ति सम्यक् दृष्टि से युक्त है, जिसने देह और आत्मा की भिन्नता को जान लिया है। मिथ्यादृष्टि को तो देह और आत्मा एक ही नजर आती है। जो देह के पार अपनी दृष्टि को दो कदम आगे बढ़ाता है, उसी के लिए साधना का दूसरा चरण है।

दूसरा चरण, दूसरी अवस्था जिसे हम कहते हैं 'सासादन'। यह वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को अपने अज्ञान, मिथ्यात्व, अविद्या का बोध हो जाए तथा वह सत्य की रोशनी की तरफ बढ़ने के लिए उद्यत हो। जिसे सत्य का आस्वादन हुआ है, सत्य की एक किरण मिली है, यदि ऐसा व्यक्ति आसमान मे झॉके तो उसे पूरा का पूरा सूर्य नजर आएगा, लेकिन यदि व्यक्ति अपने घर के

एक छेद में से सूर्य की आती हुई किरण को देखे तो वह एक किरण भी सूर्य तक पहुँचने मे सहायक होगी और तब 'सासादन' होता है। सासादन यानी व्यक्ति को सत्य की रोशनी की एक किरण मिली, पर जो असत्य था, वह न छूटा। उसने जान तो लिया कि क्रोध बुरा है, काम-वासना जीवन का एक रोग है, लेकिन उसके बावजूद जो काम-वासना का सुख है, उसके प्रति मोह है, उसमें वह आसक्त रहता है।

आपने भी जान लिया कि तंबाकू खाना बुरा है, कैंसर का कारण है, मगर जानने के बावजूद भी तम्बाकू-गुटखा आपसे नहीं छूटा। जुए, शराब जैसी बुरी आदतें न छूटीं।

साधक की दूसरी अवस्था, दूसरा गुणस्थान वह है जहॉ सासादन की अवस्था में सत्य और असत्य का विवेक तो रहता है, पर असत्य नहीं छूटता।

दुर्योधन ने कहा था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, पर मुझसे वह छोड़ा नहीं जाता। ऐसी ढुलमुल अवस्था ही सासादन है।

कहते हैं : एक व्यक्ति शराब के नशे में सागर किनारे पहुॅचा। वह सागर को पार करने के लिए नाव में सवार हुआ। वह पूरी रात नाव को खेता रहा, लेकिन जब सुबह हुई तो उसे अपनी ही बचकानी हरकत पर हॅसी आ गई कि जिस नाव को वह रात भर पुरुषार्थ कर खेता रहा, किन्तु पहुॅचा तो कहीं भी नहीं, क्योंकि उसके लंगर तो खुल ही न पाये थे। कोल्हू के बैल की तरह जहाँ से उसने यात्रा प्रारम्भ की थी, वह व्यक्ति वहीं रुका रहा। नतीजा यह निकला कि व्यक्ति धर्म करने पहुँच जाएगा, पर उसके मन की वासनाएँ नही छूटेंगी। एक व्यक्ति ने जब अपने को खुजलाया तो उसने जाना था कि खुजलाने से मवाद और खून निकला है तब बड़ी पीड़ा हुई। तब उसने संकल्प लिया कि आज के बाद कभी नहीं खुजलाऊँगा, पर पाँच दिन बाद पुनः खुजली उठी, तो सकल्प धरा रह गया। आपका ज्ञान, बोध, समझ सब किनारे पड़े रह गए और आप फिर खुजलाने का

तत्पर हो गए। जन्म-जन्म से यह खुजली उठती रही है और हम खुजलाते रहे हैं। मूर्च्छा का प्रभाव, मूर्च्छा की जंजीरें प्रगाढ हैं। यह जानते हुए भी कि सब मूर्च्छा के खेल हैं, पर फिर भी जारी है।

इस तरह यह दूसरी अवस्था है कि जहॉ व्यक्ति को सत्य की, सम्यक्त्व की, सत्य के मार्ग की झलक तो मिल जाती है, पर असत्य तब भी नहीं छूट पाता है।

तब तीसरा चरण है, तीसरा गुणस्थान है—'मिश्र गुणस्थान'। यह वह अवस्था है, जहॉ दूध और पानी मिले हुए हैं; जहॉ सत्य भी है, तो असत्य भी, लेकिन दोनों मिले हुए हैं। जैसे कि दही और गुड़ को मिला दिया जाये तो, दोनो का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। दूध और पानी को मिला दिया जाए तो पानी दूधिया और दूध पानी हो जाएगा। अगर कोई दूध वाला आपके पास आए और कहे कि मैंने इसमें गगाजल मिलाया है; वह पवित्र जल जिसके लिए हम हरिद्वार या गगोत्री जाते हैं। तुम कहोगे कि यह पवित्र जल भी इस दूध मे मिल कर गगाजल न रहा। कोई भी अस्तित्व तभी तक निर्मल रहता है, जब तक वह अपने में रहता है, जैसे ही किसी और में मिला कि खुद भी खालिस न रहा और वह भी शुद्ध न रहा, जिसमें जाकर मिला।

आज की तारीख मे मिश्र प्रकृति के व्यक्ति ज्यादा है।

आज का धार्मिक व्यक्ति धर्म तो करना पसन्द करता है, पर वह अपनी निजी जिन्दगी मे, ऐशो-आराम में किसी भी प्रकार का दखल पसन्द नहीं करता। मन्दिर जाना उसे अच्छा लगता है, पर मन्दिर से बाहर निकल कर उसे माल मे मिलावट न करने का कहो तो उसे वह स्वीकार न करेगा। एक लाख का दान सहजता से देगा, पर तस्करी उससे न छूटेगी। परमात्मा के प्रति आज जितनी आस्था है, उतनी आस्था पहले कभी न रही, लेकिन आज के इन्सान की प्रकृति मिश्र या मिलावटी हो गई है। आज का इन्सान धर्म तो करेगा, लेकिन नेकी-नीति का कोई नियम नहीं स्वीकारेगा।

पहले लोग नियम रखते थे, किसी मर्यादा की पालना करते थे कि अमुक मात्रा से अधिक संग्रह या परिग्रह नहीं करेगे; महीने मे दाम्पत्य-जीवन का उपयोग इतने दिन करेगे, पर आज तो विचित्र स्थिति हो गई है। पशु का स्थान मनुष्य ने ले लिया है। मिश्र प्रकृति की स्थिति भी ऐसी ही है जिसमे व्यक्ति सत्य के साथ

असत्य का आनन्द भी उठाना चाहेगा। याद रखो दो नावो मे सवार व्यक्ति कभी तट तक नहीं पहुँचता, वह तो मझधार मे ही डूब जाता है।

सच और झूठ की दो नौकाओ में सवार व्यक्ति की स्थिति उसी प्रकार होती है, जैसे कि दो पत्नियों से विवाह करने वाले व्यक्ति की होती है। एक से शादी की, तब तक तो जिन्दगी मजे से गुजरेगी, किन्तु एक शादी और कर ली तो बड़ा झमेला हो जाएगा। यदि एक बार भी भूलकर कदम दूसरी की तरफ बढ़ गये तो शामत आ जाएगी। दोनो पत्नियाँ अपनी-अपनी तरफ खीचेंगी। बड़ी टांग-खिंचाई होगी। मिश्र की स्थिति बड़ी घातक है।

चौथी अवस्था है—'अविरत सम्यग्दृष्टि' अर्थात् जिसकी सत्य के प्रति आँख खुली, जिसने सत्य को जाना, पर अभी भी अविरति है। शास्त्र में पढ़ा, सन्त से सुना, ज्ञानी पुरुषों से जाना सत्य का स्वरूप, पर अभी भी अविरत स्थिति बनी हुई है। अविरत यानी सत्य को जान लेने के बाद भी असत्य से अलग न होना। विरत न होने का अर्थ ही है अविरति। जान लिया कि आक्रोश बुरा है, लोभ का परिणाम घातक है, संग्रह का कोई अर्थ नहीं है, जब संग्रह करते-करते पुरखे चले गये, तो भला हम कब बचेंगे ? फिर भी गहन आसक्ति नहीं टूटती। आपकी ये दो सौ साड़ियाँ या व्यापार में कमाई गयी पचास 'पेटी' में से एक भी साथ जाने वाली नहीं है। यह सब जानते है, पर आसक्ति या मूर्च्छा नहीं छूटती।

कहते हैं, जब राजा दशरथ के सिर का एक बाल सफेद हो गया तो उन्होंने घोषणा कर दी कि वे जल्दी ही संसार का त्याग कर संन्यस्त-जीवन अंगीकार करने वाले हैं। जब कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि देखो! मेरे सिर पर एक सफेद बाल, काल का दूत बन कर आया है। कहाँ राजा दशरथ और कहॉ हम ! हमारे शरीर के सारे बाल सफेद हो गए हैं, मगर अविरति कहाँ ! फिर भी अब तक वैराग्य की कोई तरंग नहीं। जिस व्यक्ति के शरीर में होने वाले परिवर्तन ही उसे नहीं जगा पाते, तो तुम इस जीवन के प्रति कैसे जाग्रत होओगे ? सत्य का ज्ञान दुनिया में बहुत है। आज तो उस ज्ञान की जरूरत है जिससे तुम जीवन में विरति, अलगाव और मुक्ति को आत्मसात् कर सको।

वेदों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख है। इसके तहत यदि व्यक्ति की सौ वर्ष की उम्र है तो प्रथम पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के लिए, अगले पच्चीस गृहस्थ-आश्रम

के लिए, उससे अगले पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ जीवन के लिए होते थे। आज औसत जीवन अस्सी वर्ष मान लें, तो आप देखे, आपकी अवस्था किस आश्रम की ओर सकेत कर रही है; किस बात की प्रेरणा दे रही है? उम्र के सत्तर-पिचहत्तर वर्ष व्यतीत होने पर भी हम गृहस्थ मे रचे-बसे हैं।

आदमी एकान्त मे चिन्तन करे और अपनी स्थिति पर नजर डाले कि वह उम्र के इस पड़ाव पर भी संन्यस्त और वानप्रस्थ को स्वीकार नहीं करता, तो भला कब करेगा? रोज-ब-रोज कीचड़ मे गिरना और उसी को उछालना, आखिर कब तक चलेगा?

मैं अखबार मे एक विज्ञापन पढ़कर चकित रह गया कि पिचहत्तर वर्ष के एक व्यक्ति को विवाह के लिए युवती की तलाश है, विवाह भी तीसरा। जो एक बार ठोकर खाए उसे मूर्ख कहता हूँ, जो दो बार ठोकर खाए उसे महामूर्ख कहूँगा, लेकिन जो तीसरी बार भी ठोकर खाए तो उसे क्या कहा जाए ? वानप्रस्थ आश्रम को व्यक्ति कब उपलब्ध होगा ? हमारी मूर्च्छा, अज्ञान, आसक्ति, मिथ्यात्व इतना प्रबल और गहन है कि उम्र के आखिरी पड़ाव पर भी हमे और धन, और भोग, और संग्रह चाहिए।

जो जान ही लेते हैं कि सत्य का स्वरूप क्या है, उनके जीवन मे पाँचवाँ चरण घटित होता है जिसे 'देशविरत सम्यग्दृष्टि' कहा गया है। देशविरत अर्थात् जिसने अलग होना शुरू कर दिया है, जिसके सयम की सरहद शुरू हो गई है। व्यक्ति इस स्थिति में पहुँचकर नियमित/नियंत्रित हो जाता है, यह परिमाण ले लेता है कि मै इतना ही संग्रह करूँगा, इतना ही बोलूँगा, इतना ही भोगूँगा। वह नियम ले लेता है कि आज से मैं बीस से अधिक कमीज या पचास से अधिक साड़ी नहीं रखूँगा, शेष का उपयोग जरूरतमंदों को दान मे करूँगा।

परिग्रह-परिमाण-व्रत को आत्मसात् करने के लिए आप एक सहज नियम ले सकते हैं मुझे अमुक रंग के वस्त्र ही स्वीकार्य होगे। अगर आप अपने जीवन में किसी भी एक रंग का नियम ले लेते है तो आप ताज्जुब करेंगे कि आपकी सचय की वृत्ति अपने आप कम हो जाएगी। आखिर व्यक्ति एक ही रग के कितने वस्त्र रखेगा ? आज भी वही श्वेत या गुलाबी, कल भी वही। आप आश्चर्य करेंगे कि

हमारे पास मात्र दो जोड़ा वस्त्र है, आज एक पहनते हैं तो कल दूसरा। जब सफेद ही पहनना है तो फिर मोह कैसा !

इसी प्रकार आप भोजन करते समय भी परिमाण रखे कि अमुक वस्तु का इतनी मात्रा में या इतनी संख्या मे सेवन करूँगा। भोजन करते हुए भी आप देशविरत हैं। आपने बारह बजे भोजन किया तो आप मन मे यह संकल्प कर ले कि अब चार घण्टे नहीं खाऊँगा, तो आप इस प्रकार तीन बार भी एक दिन मे नियम ले लेते हैं तो आपका दो दिन मे एक उपवास हो जाएगा। इसी प्रकार यदि आप रात्रि में भोजन न करने का नियम ले लेते हैं तो एक रात्रि मे आपके बारह घंटे का त्याग हो जाता है। यदि आप दो रात्रि भोजन नहीं लेते हैं तो चौबीस घण्टे का त्याग करने से आपको मुफ्त मे ही उपवास का फल मिल जाएगा। आप छोटे-छोटे, थोड़े-थोड़े त्याग के नियम अपनाएँ। सौ पन्ने की एक किताब पढ़ने से अच्छा है कि आप दस पन्नों की छोटी किताब ही पढ़े और उसे अपने जीवन मे ढाले, आचरण मे लाएँ।

त्याग वह नहीं है जिसे तुमने अपने हाथो से त्यागा। त्याग वह है, जहाँ उस वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति की याद ही तुम्हारे दिल से चली गयी। तुम सोचोगे, मैने दो लाख दान दिया, पर दिया कहाँ ! तुम तो उसे पकड़कर बैठे हो। कहते हो, पचास हजार अभी लो, शेष रुपये तब मिलेंगे जब हमारा नाम शिलापट्ट पर खुदेगा। दिया कहाँ ? पकड़ कर तो बैठे हो।

एक बार मैं किसी संस्था के सदस्यों के बीच बैठा था। वहाँ किसी एक व्यक्ति ने कमरे का निर्माण करवाया होगा। वह व्यक्ति जब भी अपने परिवार के साथ उस स्थान पर आता तो वह परिवारजनो को उस कमरे के पास ले जाकर कहता—यह है अपना कमरा। अभी भी आसक्ति, मूर्च्छा और ममत्व जुड़ा है, तो दान कहाँ हुआ ? देने के बाद भी वह यह भाव रहता है कि मैंने दिया तो वह दान नहीं है। दान तो इस प्रकार हो कि एक हाथ का दिया दान, दूसरे हाथ को भी पता न चले। अभी भी मूर्च्छित हो, अविरत हो। बाहर से छोड़ दिया, पर अन्दर मे पकड़े बैठे हो।

कहते हैं कि एक बार भगवान महावीर के पास उनके कुछ शिष्य बैठे हुए थे। वे भोजन के लिए काम आने वाले काष्ठ पात्रों पर रंग कर रहे थे; चित्रकारी

कर सुंदर बेल-बूटे बना रहे थे। भगवान ने उन्हे एक दिन देखा, दूसरे दिन देखा और तीसरे दिन भी देखा। तब महावीर ने अपने शिष्यो को सम्बोधित करके कहा–'वत्स, तुम यह क्या कर रहे हो ? जरा चिन्तन और मनन करो कि तुम यहॉ श्रमण-वेश में किसलिए आए हो ?' यह सुनकर शिष्य ग्लानि-भाव से भर उठे। पहले के लोग सरल और निर्मल होते थे, यह सुनते ही शिष्यो की ऑखो से ऑसू ढुलक पडे और उन ऑसुओं के साथ ही वह रग, बेल-बूटे, चित्रकारी भी बह गयी और बह गया भीतर का वह मूर्च्छा-भाव, राग, आसक्ति का भाव और तब वे मुक्ति के एक सोपान को पार कर चले।

प्रमत्त विरत यानी जहॉ बाहर त्याग हो गया, पर भीतर मूर्च्छा जारी है। बाहर से सन्त बन गये पर भीतर में अभी भी यह इच्छा है कि कोई प्रतिष्ठा मुझसे करवाए; किसी पत्रिका मे मेरा नाम छपे। जब व्यक्ति सन्यस्त होता है तो सबसे पहले जिस ऐषणा या इच्छा का त्याग करना होता है, वह है— स्त्रैषणा अर्थात् स्त्री की इच्छा का त्याग। दूसरी ऐषणा है—पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र की चाह, तीसरी ऐषणा है–वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा। लोग बातें तो करेंगे त्याग की, कथा बाचेंगे त्याग की, पर लोगों को कहेंगे कि हमारी आरती में पैसा उदारता से डालना। यदि आरती में कम पैसा हो तो कथावाचक की त्यौरियाँ ही चढ़ जाती हैं, सारी कथा वहीं धरी रह जाती है और आपसी खींचतान शुरू हो जाती है। गृहस्थ तो त्याग कर भी पार हो गया और तुम पाकर भी डूब गये।

एक बार हमारा एक ऐसी भागवत कथा के आयोजन पर जाना हुआ जहॉ कथावाचक विदेश से कथावाचन करने के लिए आए थे। वह उस समय तक कार में बैठे रहे जब तक कि कार से मच तक मखमल का बिछा हुआ गलीचा न दिया गया। कैसी मिश्र गुण-स्थान की स्थिति थी वह, जहॉ व्यक्ति त्याग व भोग दोनों का ही मजा लेना चाहता है। मंच में भी एक तरफ मात्र पट्टा लगा था। हम जाकर वहॉ बैठ गए और वे कथावाचक उस स्थान पर आसीन हुए, जहॉ शाही आसन सरीखे मसनद और गोल तकिए लगे थे। धर्म कभी भी भोग से नहीं, त्याग से ही प्रकाशित होता है और त्याग से ही उसकी महिमा होती है।

जीवन में साधना की असल स्थिति तभी बनती है, जब व्यक्ति साधना के सातवें गुणस्थान में प्रवेश करता है, जिसका नाम है—अप्रमत्त विरति। यह बहुत

गहन-गम्भीर विषय है। जितना आप मनोयोग और ध्यान से इस पर विचार करेंगे, उतना ही इन सोपानो के साथ स्वयं का आत्म-मूल्यांकन कर सकेगे। आज नही तो कल ही सही, आप इनकी ओर प्रस्थान कर सकेगे।

सातवाँ गुणस्थान है अप्रमत्त विरत। इससे पहले विरति तो हुई, पर प्रमाद ने छिटका। सातवें चरण में प्रमाद भी गिरा। प्रमाद गिरना ही साधना की असली शुरुआत है। इससे पहले विरति मात्र क्रियाकांड रही, महज दिखावा रही, पर अप्रमत्त होना साधना की सुवास को बढ़ाना है। अप्रमाद यानी आत्मा-जागरण। साधक भीतर से जागा, हर क्रिया, गतिविधि के प्रति जागा। जागरण ही साधना की नींव है। जागे सो महावीर, सोये सो कायर। अप्रमाद का स्वामी होना चेतना की ओर हकीकत में कदम बढ़ाना है। इसी गुणस्थान से ही मुक्ति की असली शुरुआत होती है।

अप्रमत्त विरत साधना की देहरी का वह दीपक है जहाँ ज्योति बाहर भी आती है, भीतर भी जाती है। अलगाव शुरू हो गया है, न केवल बाहर से, बल्कि भीतर से भी। अब नतीजा यह निकलेगा कि व्यक्ति ने जिस वस्तु का त्याग कर दिया है, उसे उस त्यक्त वस्तु की याद भी न आएगी क्योंकि उसने भीतर से भी त्याग कर दिया है। जिसने भीतर से नहीं त्यागा, वह तो उस कुत्ते की तरह वमन किये हुए पदार्थ को खाने के लिए तत्पर हो उठेगा। त्याग न केवल बाहर का हो वरन् भीतर का भी हो। जिस वस्तु का हमने बाहर त्याग किया है, उसकी त्याग-भावना जिगर तक भी पहुँच जाए। भीतर का त्याग तो स्वयं ही बाहर प्रगट हो जाता है।

अप्रमत्त विरत वह है जिसकी आँखें खुल चुकी है, प्रमाद मिट गया है, मूर्च्छा समाप्त हो गयी है। कहते हैं कि एक राजकुमार बहुत अस्वस्थ था। सभी राजवैद्यों ने, उसके स्वस्थ होने की आशा छोड़ दी थी। राजा, महारानी, मंत्री और परिवार के सभी जन राजकुमार के पास बैठे थे। कोई माथे पर हाथ रखता, कोई हाथ पर हाथ रखकर सहलाता, लेकिन वेदना तो व्यक्ति को स्वयं ही भोगनी पड़ती है। कर्म तो केवल कर्ता का अनुगमन करता है। कोई आप पर पानी की तरह पैसा जरूर खर्च कर सकता है, पर आपकी वेदना में भागीदारी सम्भव नहीं है। राजकुमार के चारों ओर रूआँसा वातावरण था। सम्राट् को बैठे-बैठे ही नींद की

झपकी लग गयी। राजा ने नींद मे एक सपना देखा। सपने मे देखा कि बहुत दूर तक उसका एक साम्राज्य है, सोने से निर्मित सात-सात महल हैं; सात-सात विश्वसुन्दरियो से उसका विवाह हुआ है; सातो सुन्दरियो से एक-एक अप्रतिम सौदर्य वाले राजकुमार जनमे हैं। सातो राजकुमार बहुत दूर से अश्वो पर सवार होकर उससे मिलने आ रहे हैं। राजकुमार जैसे ही उसके गले लगने के लिए करीब पहुँचते हैं, तभी राजमाता की चीख की आवाज से उसकी नीद खुल जाती है, सपना टूट जाता है।

राजमाता ने चीखकर कहा कि राजकुमार चल बसा। लोग छाती पीट-पीट कर रोने लगे, चिल्लाने लगे, पर सम्राट् तो वैसे ही चुपचाप, गुमसुम बैठा रहा।

राजमाता ने सम्राट् को फिर झिंझोड़ कर कहा, 'अरे बेटा ! राजकुमार चल बसा है।' सम्राट् ने कहा, 'हॉ, देख रहा हूँ माँ।' 'देख रहो हो, पर तेरी आँख में ऑसू नहीं ? तू अपने लिए नहीं तो कम-से-कम दुनिया के लिए थोड़ा रुदन कर।' सम्राट् यह सुन मुस्करा उठा। राजमाता ने कहा, 'तेरा बेटा मर गया और तू मुस्कुरा रहा है।' सम्राट ने कहा—'माँ ! मैं किसका दुःख करूँ ? एक बेटा जो मर गया उसका, या सात-सात बेटो के मरने का, छूटने का।' राजमाता ने कहा—'बेटा ! तुमने जरूर कोई स्वप्न देखा होगा।' 'हॉ मॉ, मैंने स्वप्न ही देखा। राजामता बोली, 'वह तो स्वप्न था और यह हकीकत है।' सम्राट् ने कहा—'मॉ, मैं तुझे यही समझाना चाहता हूँ कि वह सपना मैंने बन्द आँखो से देखा था और यह हकीकत खुली आँखो से देख रहा हूँ। किन्तु सपना तो सपना ही है। वह भी एक सपना था और यह भी एक सपना है। एक खुली आँखों से देखा सपना और एक बंद ऑखों से देखा सपना। जब वे सात भी छूट गये और यह एक भी चला गया, तो किस पर रोएँ और किस पर मुस्कुराऍ ?' यह व्यक्ति की वह स्थिति है, जहॉ भीतर और बाहर दोनो ही तरफ से जाग शूरू हो गयी।

जब व्यक्ति भीतर और बाहर दोनों ही तरफ से आत्मजागृत हो जाता है—देहरी के दीप की तरह, तब उसके जीवन मे आठवॉ गुणस्थान उतरता है, जिसका नाम है—अपूर्वकरण। यह एक ऐसी अपूर्व अवस्था या स्थिति है जहॉ व्यक्ति के आत्म-परिणाम प्रतिपल, प्रतिक्षण निर्मल से निर्मलतर होते चले जाते हैं। चेतना की

वह अवस्था जो कि पहले कभी न आ पाई, उसे ही अपूर्वकरण कहते है। यहाँ पहुँचकर व्यक्ति को अनुभव होता है कि आत्मा है, परमात्मा भी है और समाधि भी। अब तक तो केवल बाते-ही-बातें थीं, लेकिन अब व्यक्ति को स्वय के आत्मवान् होने का बोध हुआ, भान हुआ। बोध होने के पूर्व कही गई हर बात अपने आप मे वाग्जाल होती है। जब व्यक्ति को स्वयं के आत्मवान् होने का बोध होता है, तो शब्द स्वयं मौन हो जाते हैं और सत्य साकार हो उठता है। यही व्यक्ति की अपूर्वकरण की स्थिति है।

इस अपूर्व स्थिति में ऐसा लगता है कि जैसे प्रतिपल कोई बादल से फुँहारे बरस रही हो; जैसे मीराँ के घुँघरू बज उठे हों; जैसे मायापुरम् के जंगलो से गुजरते हुए चैतन्य महाप्रभु नृत्य करते-करते झूम उठे हों। तब प्रतिपल अपूर्व आनन्द की स्थिति घटित होती है। बाहर भी त्याग और भीतर भी—कषायों का त्याग। ऐसी अपूर्व स्थिति जहाँ बाहर भी परमात्मा दिखाई देता है और भीतर भी उसी सूरत के दर्शन होते हैं। तब मीराँ यह कह ही उठती है—

'पग घुंघरू बाँध मीराँ नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आप ही हो गयी दासी रे।
लोग कहे मीराँ भई रे बावरी, न्यात कहे कुलनाशी रे।
पग घुँघरू बाँध मीराँ नाची रे.....!
विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, सहज मिले अविनाशी रे।
पग घुंघरू बाँध मीराँ नाची रे....!

एक ऐसी दशा कि मीरां के घुंघरू थिरक उठे, अपूर्व दशा घटित हो उठी। मीरां भूल गई कि कौन देख रहा है, कौन नहीं। भीतर की उस अपूर्व दशा के उदय होते ही मीरा नाच उठी, मेड़ता से वृंदावन तक की गलियाँ गूंज उठीं—गिरधर हृदय में साकार हो गए।

यह वह स्थिति है जहाँ अविनाशी सहज मे ही आत्मसात् हो जाता है; मीराँ जैसी कोई साधक-आत्मा थिरक ही उठती है। यह स्थिति ही अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुण स्थान है।

श्रीमद् राजचन्द्र जैसे लोग प्रतिदिन यह चिन्तन करते हैं—

अपूर्व अवसर एहवो क्यारे आवशे
क्यारे थईशु बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्ध ने बंधन तीक्ष्ण छेदी ने,
विचरशु कव महत् पुरुष ने पथ जो।

'मेरे जीवन मे वह दिन कब आएगा जब मैं, बाहर और भीतर के सभी बन्धनो का त्याग करूँगा, दोनो प्रकार की ग्रन्थियों का त्याग करके, दोनों प्रकार की आसक्तियों का त्याग करके महान पुरुषो के पथ पर विचरण करूँगा ?' ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा, प्रतीक्षा उसी की है। राजचन्द्र कहते हैं अपूर्व दशा का उदय हो, जो हमें सत्य का, सच्चिदानन्द का स्वामी बनाए।

अपूर्वकरण घटित होने पर व्यक्ति के जीवन मे आने वाला नवम गुणस्थान है—अनिवृत्तिकरण अर्थात् वह स्थिति जहॉ व्यक्ति के चित्त मे जितने भी राग और दुराग्रह थे, उन सबको उसने उतार कर फेक दिया। व्यक्ति के जीवन मे आने वाली समदर्शिता का नाम ही अनिवृत्तिकरण है। यहॉ पहुँच कर स्त्री-पुरुष का भेद समाप्त हो जाता है। जब तक तुम्हारे हृदय में स्त्री-पुरुष का भेद बना हुआ है तब तक तुम कहाँ साधक, कहॉ सन्त ? तुम अब भी देह को ही मूल्य दे रहे हो। साधक और सन्त के लिए तो सब समान हैं। उनके लिए तो स्त्री-पुरुष, लाभ-हानि, पथ-सप्रदाय सभी के आग्रह गिर जाते हैं; सबके प्रति समदर्शिता आ जाती है, सबके प्रति आत्मदृष्टि उपलब्ध हो जाती है। जहॉ वर्ण, लिग, गच्छ, पंथ, सम्प्रदाय के भेद बने हुए हैं, वहॉ व्यक्ति अभी भी निचले गुणस्थान मे स्थित रहता है।

शुकदेव के जीवन की एक बहुत प्यारी घटना है। कहते हैं कि एक बार शुकदेव और उनके पिता किसी सरोवर के किनारे से गुजर रहे थे। पिता आगे-आगे चल रहे थे। पिता जैसे ही गॉव के सरोवर के पास से गुजरे तो जो ग्रामीण स्त्रियॉ सरोवर मे स्नान कर रही थीं, वे झट से सरोवर के बाहर निकलीं और वस्त्र पहनने लगीं, अपने बदन को ढॉकने लगीं। पिता ने सोचा कि गॉव की महिलाऍ कितनी शालीन है, जिन्होंने किसी वृद्ध को देखकर अपना शरीर झट से ढक लिया। पिता कुछ आगे चले होगे कि उन्होने मुड़कर देखा कि फिर से ग्रामीण

महिलाएँ अपने-अपने वस्त्र उतारकर सरोवर में स्नान करने लगी हैं। पीछे से शुकदेव आ रहे थे, पर महिलाएँ सरोवर में नहाती रहीं। पिता ने सोचा कि ये महिलाएँ कितनी अशिष्ट हैं जो एक वृद्ध को देखकर तो कपड़े पहन लेती हैं और युवा शुकदेव के सम्मुख निर्वस्त्र नहाती है।

शुकदेव के पिता तो शायद नजरें नीची करके चले गये होंगे, पर शुकदेव तो अपनी मस्ती में सब जगह, सब ओर देखकर चल रहे थे। पिता के मन मे सन्देह हुआ और उन्होंने जाकर उन ग्रामीण युवतियों से पूछा, 'क्या कारण है कि मुझ वृद्ध के यहाँ से गुजरने पर तुमने वस्त्र धारण कर लिये और शुकदेव के गुजरने पर भी तुम उसी प्रकार नहाती रहीं ?' महिलाओं ने कहा—'जो प्रश्न शुकदेव को पूछना चाहिए था, वह प्रश्न आप पूछ रहे हैं ! आपकी दृष्टि मे अभी भी पुरुष-महिला का भेद बना हुआ है, जबकि शुकदेव की नज़र मे सब समान है—क्या पुरुष, क्या महिला !' जहाँ व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् और सम हो जाती है, जहाँ सबके प्रति समान प्रेम, समान वात्सल्य और समान आदर आ जाता है, वही व्यक्ति अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पाता है। वहाँ व्यक्ति को सर्वत्र उसी एक प्रभु के दर्शन होते हैं, मनुष्य में भी और पशु मे भी।

यही कारण है कि एकनाथ जैसे संत, अपने कावड़ मे सुदूर रामेश्वरम् से लाया गया जल एक गधे को पिला देते है। साथ वाले दूसरे लोग संत को टोकते है, 'अरे एकनाथ ! जिस जल को तुम कोसों दूर से भगवान को चढ़ाने के लिए लाए थे, उसे इस प्यासे गधे को पिला कर व्यर्थ कर दिया।' तब एकनाथ कह उठते हैं—'तुम्हारे लिए रामेश्वरम् अन्यत्र होगा, लेकिन मुझे तो इस प्यासे गधे मे भी रामेश्वरम् के भगवान के ही दर्शन होते हैं।' यह साधक की अनिवृत्तिकरण की अवस्था है, जहाँ उसे सभी जगह प्रभु की मोहिनी मूरत नज़र आती है।

अब साधक की दसवीं अवस्था आती है—सूक्ष्म साम्पराय। सूक्ष्म साम्पराय अर्थात् जहाँ कषाय की सूक्ष्म अवस्था अब भी शेष रह गयी है। त्याग तो किया बाह्य, आभ्यंतर दोनो ही तरह से, समदृष्टि भी उपलब्ध हो गयी, पर उस कषाय की, मोह और राग की एक सूक्ष्म परम्परा बाकी रह गयी है। ऐसा समझे कि सन्त का बाना भी पहन लिया, कषाय भी उदय हो नहीं पाते, पर कभी-कभी कषायों की एक सूक्ष्म तरंग उठ आती है। जैसे कि किसी ऑगन मे पानी गिरा हो तो वह

आगे बह जाएगा, जमीन भी थोड़ी देर मे सूख जाएगी, पर एक हल्की-सी रेखा रह जायेगी, जो इस बात का अहसास कराएगी कि यहॉ पानी बहा था। उसी प्रकार व्यक्ति का क्रोध खत्म हो गया, मान-सम्मान का भाव समाप्त हो गया, काम और सभी वासनाएँ छूट गई, पर उन कषायो की सूक्ष्म तरंगें अब भी कभी-कभी विचलित कर देती हैं। सूक्ष्म रेखाएँ अब भी बाकी हैं।

उस अवस्था में साधक उस सूखी हुई रेखाओं को भी मिटाने के लिए सकल्प कर लेता है। जिस प्रकार आंगन की उस सूखी रेखा को मिटाने के लिए हमे पौंछा लगाना पड़ता है जिससे वह बारीक-सी सूखी रेखा भी साफ हो जाती है, उसी प्रकार साधक भी अब उस सूखी रेखा पर अपने ज्ञान और साधना का पौछा फेरता है।

कषाय का वह रूप जिसको कि हमने दबाकर रखा था जो कि न तो हमारे बोध में आया और न किसी अन्य के बोध मे आया, उपशान्त कषाय कहलाता है। यह ग्यारहवां चरण है। कर्म की इस सूखी रेखा पर यदि हमने ध्यान न दिया तो खतरा है क्योंकि अगर अब किसी ने इस पर पानी बहाया तो यह नाली बन जाएगी। तब वह कर्म की रेखा न रहेगी, कषायो का वहीं प्रवाह शुरू हो जाएगा। जो साधक कर्म को सुखाते-सुखाते इतना ऊँचा उठा था, अब वह यदि सावधान न हुआ तो सीधे नीचे गिर जाएगा। स्प्रिंग को जितनी तेजी से दबाओगे, उतनी तेजी से वह उछलेगी। आज यदि अपने क्रोध को दबा लिया, काम-वासना के सस्कार को दबा लिया, तो यह दमन बहुत घातक है। आज नहीं तो बीस साल बाद भी आपकी दमित वृत्ति उदित होगी। तब साधक ग्यारहवे गुणस्थान से ऐसे फिसलेगा जैसे उसके पॉव के नीचे केले का छिलका रखा हो। इसीलिए तो मैने कहा कि साधना के रास्ते मे ऊँचाइयॉ ही नही, दर्रे और गड्ढे भी है। आप अभी कितने शान्त दिखते है, पर भीड़ मे कोई आपके पॉव पर पॉव रख दे, तो आपको शान्तिनाथ से अशान्तिनाथ बनते देर न लगेगी।

दसवे गुणस्थानक तक कई साधक पहुँच जाते है, पर यह एक सूक्ष्म दमित वृत्ति है जो बड़ी घातक सिद्ध होती है।

इसे यों समझें कि जैसे कोई एक नदिया है, जिसमें बड़ा साफ-सुथरा, निर्मल पानी है। तभी एक कोई बैलगाड़ी आती है जो इस नदिया के बीच से गुजरती है

और सारे उजले पानी को क्षण भर मे गंदला कर देती है। ग्यारहवे गुणस्थान पर पहुँचे हुए साधक ने अपनी साधना की नदिया के जल को एकदम उज्ज्वल कर लिया है, निर्मल बना लिया है, पर वह एक सूक्ष्मवृत्ति जब उदय मे आती है तो सारी निर्मलता और उज्ज्वलता धूमिल हो जाती है; पानी गंदला हो जाता है।

लेकिन जिस साधक ने उस सूक्ष्म वृत्ति को भी समाप्त कर दिया, उसी सूखी रेखा पर भी पौंछा लगा दिया, वह साधक, साधना की बारहवीं सीढ़ी पर चढ़ता है, जिसे कहते हैं—'क्षीण मोह'।

बारहवे गुणस्थान पर छोटी-मोटी सभी रेखाएँ, सभी कषाय समाप्त हो जाते है। यह अवस्था एक कमरे मे बन्द उस दीपक की-सी अवस्था है, जिसे बाहरी हवाएँ कम्पित नहीं कर सकतीं, एक ऐसी निष्कम्प अवस्था जिसकी लौ को कोई भी बाहरी तूफान बुझा नही सकता, बाहरी हवाएँ हिला नहीं सकतीं। उस अवस्था में साधक के जीवन मे पूर्णतः निर्मलता आ जाती है। यह शुक्ल ध्यान की उच्च/उच्चतर/उच्चतम अवस्था है। यह शुभ से शुद्धता की ओर कदम बढ़ाना है।

साधक के जीवन में अब तेरहवीं अवस्था आती है—'सयोगी केवली जिन' की अवस्था, जिसमें साधक अपनी परम शुद्ध अवस्था को उपलब्ध हो चुका है। यह वह चरण है, जिसमें परम ज्ञान, कैवल्य ज्ञान और बोधि-लाभ आत्मसात् हो गए हैं। अब जल स्फटिक की तरह पूर्णतः निर्मल हो गया है। पहले तो तुमने बरसात का गंदला पानी इकट्ठा किया था। धैर्य रखा, पुरुषार्थ किया, सयम रखा तो वह गंदगी कुछ समय बाद नीचे बैठ गयी और साफ पानी ऊपर आ गया। अब उस पानी को और अधिक स्वच्छ करने के लिए फिटकरी का उपयोग किया तो वह गंदगी और भी अधिक साफ हुई। इससे एकदम स्वच्छ पानी ऊपर आ गया। पर सावधान ! अगर गंदगी को आपने उसी पात्र मे रहने दिया तो फिर कोई हवा का झोंका आयेगा और पानी को गंदला कर देगा। जीवन में मुक्ति का स्वामी बनना है, पूर्ण निर्मलता को आत्मसात् करना है तो उस गंदगी को पात्र से अवश्य निकाल देना। अगर तुम ऐसा न कर पाए तो जन्म-जन्मांतर तक पानी को स्वच्छ बनाते रहोगे तो भी गंदगी अलग न होगी और हर बार का पुरुषार्थ व्यर्थ जाएगा, पूरा जीवन ही गंदले पानी का तालाब बन जाएगा।

सयोगी केवली 'जिन' वह है जिसने उस गदगी और कचरे को पूर्णतः अलग कर जिनत्व को, बोधिसत्त्व को, कैवल्य और परमज्ञान को आत्मसात् कर लिया है; परमात्मपद प्राप्त कर लिया है। मगर अब भी वह सयोगी है अर्थात् देह का सयोग बना हुआ है। जिस प्रकार एक कैदी की सजा जज ने समाप्त कर दी है, उसके कपडे भी बदल दिए है, उसे सींखचो से भी बाहर निकाल दिया है, उसकी हथकडियॉ और बेड़ियॉ भी खुल गयी हैं, वह अब सभी बन्धनो से छूट कर बाहर आ रहा है, पर मुख्य द्वार तो अब भी बन्द है। जब यह मुख्य द्वार खुले, तो मुक्ति का आकाश मिले।

साधक अभी तेरहवे गुणस्थान मे है। उसे कारागार से मुक्ति हो गई; वह मुख्य द्वार तक पहुँच गया है, पर आयुष्य कर्म का क्षय हो तो वह द्वार खुल सकेगा और साधक एक कदम बाहर रखेगा, एक कदम आगे बढ़ेगा। जैसे ही उस आयुष्य कर्म के मुख्य द्वार के बाहर साधक कदम रखेगा, वह सम्पूर्ण रूप से मुक्त चेतना का स्वामी बन सकेगा और यही है उस साधक की चरम, चौदहवीं अवस्था—अयोगी केवली जिन। अब तक देह का जो सयोग था, वह भी टूट गया; ज्योति, ज्योति में जा मिली और मिट्टी, मिट्टी मे समा गई। जिसकी नजर उस मिट्टी के दीये पर थी, वह मिट्टी हो गया और जिसकी दृष्टि माटी के दीए पर जलती हुई लौ पर थी, उसका जीवन ज्योतिर्मय हो गया। वह अपने घर-द्वार पर लौट आया; उस मजिल पर जिस तक पहुँचने के लिए उसने अपने साधनामय जीवन की शुरुआत की थी। यह वह अवस्था है जहॉ व्यक्ति अपने समग्र सच्चिदानन्द-रूप को, परम शैलेषी अवस्था को उपलब्ध होता है। बात तो जीवन मे तब बनेगी जब कि हम आठवे गुणस्थान तक पहुँच सकें, लेकिन वहॉ भी न पहुँचें तो कम-से-कम सातवें गुणस्थान तक पहुचॅने का प्रयत्न करें, जहॉ बाहर और भीतर दोनो ही तरफ 'जाग' है।

हम एकान्त में आत्मचिन्तन करें; आत्म-विश्लेषण कर स्वय का मूल्याकन करें कि स्वय का कौन-सा गुणस्थान है; आत्मा की कौन-सी अवस्था है ? ईश्वर हमें ऐसा सौभाग्य, ऐसा अपूर्व अवसर प्रदान करे, कि जहॉ से गुजर कर 'पग घुघरू बॉध मीरॉ नाची रे', जैसा अहोनृत्य, ऐसा अहोभाव हृदय मे उमड आए कि ऑसू भी हमे निर्मल करें, हमारे अन्तरभाव भी हमे मुक्ति के मार्ग पर गतिशील करें। जीना उसी का सार्थक है जो स्वयं को आत्मसात् कर ले। रात को सोते समय

पाँच मिनट अवश्य अपनी आत्म-अवस्था का चिंतन-मनन करें कि मुझे अपने आत्मविकास और आत्मकल्याण के लिए क्या करना है ? मेरे जीवन में वह अपूर्व अवसर कब आएगा जब मै, बाहर और भीतर दोनों ही तरफ से निर्मल हो पाऊँगा, बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ग्रन्थियों का छेदन करूँगा।' हम उस निर्मल अवस्था को प्राप्त करे, जहाँ माँ मरुदेवी को हाथी के हौदे पर भी कैवल्य प्राप्त हो जाता है, किसी इलायची कुमार को बाँस पर नृत्य करते हुए भी परम बोधि प्राप्त हो जाती है।

आत्म-जागरण ही, अप्रमाद ही साधना-पथ का मूलभूत मंत्र है, दीप है। आत्म-जागृति का प्रकाश साथ हो—साधना स्वतः आगे बढ़ेगी, साध्य साधक में घटित होगा, स्वस्ति-मुक्ति सिद्ध होगी।

आपकी धर्मभावित आत्मा को प्रणाम।

❑

जितयशा फाउंडेशन का उपलब्ध साहित्य

अपने घर में अपना पुस्तकालय

हमारी बौद्धिक क्षमता बेहद बढ़ी है, किन्तु सही मार्गदर्शन एव विचारदृष्टि के अभाव में मनुष्य की चेतना विखंडित, विपन्न और घुटन के दौर से गुजर रही है। जितयशा फाउंडेशन आम आदमी के आत्मिक विकास एवं मानसिक शान्ति के लिए प्रयासरत है। फाउडेशन श्री चन्द्रप्रभ जी जैसे महान चिंतक एवं दार्शनिक संत की जीवन-दृष्टि और महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को आधार बनाकर जन-साधारण के लिए साहित्य के प्रकाशन एवं विस्तार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

हमारा दृष्टिकोण न केवल लाभ-निरपेक्ष है, अपितु लागत से भी कम मूल्य मे श्रेष्ठ साहित्य को घर-घर तक पहुॅचाना है। हमारे पाठकों की संख्या मे निरन्तर वृद्धि हुई है और हमे प्रसन्नता है कि हम भारतीय चिन्तन को ठेठ विदेशों तक पहुॅचाने में सफल हुए हैं।

अपना पुस्तकालय अपने घर मे बनाने के लिए फाउंडेशन ने एक अभिनव योजना भी बनाई है। इसके अन्तर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउंडेशन को पन्द्रह सौ रुपये का अनुदान देना होगा, जिसके बदले में फाउंडेशन अपने यहॉ से प्रकाशित होने वाले प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर तक पहुँचाएगा और वह भी आजीवन। इस योजना के तहत एक और विशेष सुविधा आपको दी जा रही है कि इस योजना के सदस्य बनते ही आपको रजिस्टर्ड डाक से फाउंडेशन का अब तक प्रकाशित सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य नि:शुल्क प्राप्त होगा।

यहॉ हम फाउंडेशन की उपलब्ध कुछ विशिष्ट पुस्तकों की सूची दे रहे है। इन पुस्तको का आप स्वयं तो पठन-मनन करें ही, अपने मित्रों को भी उपहार के रूप मे दे सकते है। इन अनमोल पुस्तको के प्रचार-प्रसार के लिए आप सस्नेह आमन्त्रित हैं।

चिंतन-प्रधान विशिष्ट साहित्य
(मात्र लागत मूल्य पर)

ऐसे जिएँ : श्री चन्द्रप्रभ
जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक। स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर-जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण। पृष्ठ ११०, मूल्य १५/-

ध्यानयोग : विधि और वचन : श्री ललितप्रभ सागर
ध्यान-शिविर में दिये गये प्रवचन एवं अनुभवों का अमृत आकलन, साथ ही ध्यान-योग की विस्तृत विधि। एक चर्चित पुस्तक। पृष्ठ १८०, मूल्य २५/-

इक साधे सब सधे : श्री चन्द्रप्रभ
जीवन को नई चेतना और दिशा प्रदान करने वाला सहज अनुभूतिपूर्ण चिन्तन। ध्यान-साधकों के लिये काफी उपयोगी। पृष्ठ १४८, मूल्य ३०/-

यह है मार्ग ध्यान का : श्री चन्द्रप्रभ
ध्यान योग का मार्ग प्रशस्त करने वाली एक श्रेष्ठ लघु पुस्तिका। तनाव-मुक्ति एवं आत्म-समृद्धि के लिए सहज मार्गदर्शिका। पृष्ठ २४, मूल्य ३/-

महावीर की साधना के रहस्य : श्री चन्द्रप्रभ
भगवान् महावीर के जीवन, सिद्धान्त और रहस्यदर्शी सूत्रों के आधार पर साधना एवं मुक्ति के मौलिक मार्ग का दिग्दर्शन करती पठनीय पुस्तक। पृष्ठ १००, मूल्य १५/-

जागो मेरे पार्थ : श्री चन्द्रप्रभ
गीता पर दिये गये विशिष्ट आध्यात्मिक अठारह प्रवचनों का अनूठा संकलन। गीता की समय-सापेक्ष विवेचना। पृष्ठ २५०, मूल्य ४०/-

महाजीवन की खोज : श्री चन्द्रप्रभ
धर्म और अध्यात्म का समन्वय स्थापित करता एक सम्प्रदायातीत ग्रन्थ। आचार्य कुंदकुंद, योगीराज आनंदघन एवं श्रीमद् राजचन्द्र के सूत्रों एवं पदों पर दिये गये अत्यन्त गहन-गंभीर प्रवचन। पृष्ठ १४०, मूल्य २५/-

अष्टावक्र-गीता : श्री चन्द्रप्रभ
महान आध्यात्मिक ग्रन्थ अष्टावक्र-गीता का सरस-सरल अनुवाद। मूल सहित। पृष्ठ ५४, मूल्य ५/-

पंछी लौटे नीड़ में : श्री चन्द्रप्रभ
अन्तर-साधना एवं व्यक्तित्व-विकास के सूत्रो को मनोवैज्ञानिक तरीके से उजागर करता एक पठनीय ग्रन्थ। पृष्ठ १६०, मूल्य ३०/-

महागुहा की चेतना : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
सबोधि का प्रकाश आत्मसात् करने के लिए साधकों-मुमुक्षुओ को दिया गया अमृत मार्गदर्शन। संबोधि-सूत्र का मानक प्रवचन। पृष्ठ २२२, मूल्य ४०/-

ध्यान का विज्ञान : श्री चन्द्रप्रभ
ध्यान की सम्पूर्ण गहराइयो को प्रस्तुत करता एक अभिनव ग्रन्थ। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुचर्चित ग्रन्थ। पृष्ठ १२४, मूल्य २५/-

न जन्म, न मृत्यु : श्री चन्द्रप्रभ
मुक्ति और अमरता की खोज मे उद्घाटित करती अन्तर्दृष्टि। अष्टावक्र-गीता पर दिये गए अद्भुत, अनुभव-सिद्ध प्रवचन। पृष्ठ १६०, मूल्य ३०/-

अब भारत को जगना होगा : श्री चन्द्रप्रभ
उस मानव चेतना के जागरण का आह्वान जो आज कायर और नपुसक बन बैठी है। भारतीय दृष्टि एवं मूल्यो को नये सिरे से समझने का एक नवीनतम उपक्रम। पृष्ठ १५०, मूल्य ३०/-

झरै दसहूँ दिस मोती : श्री चन्द्रप्रभ
धर्म, अध्यात्म और जीवन-सिद्धान्तो के बीच स्थापित किया जाने वाला एक अनूठा सामंजस्य। भाषा सरल, भाव गंभीर। जो उतरे, सो पावे। पृष्ठ २२४, मूल्य ३०/-

स्वयं से साक्षात्कार : श्री चन्द्रप्रभ
मन-मस्तिष्क की ग्रन्थियों को खोलने के लिए ध्यान-शिविर मे दिये गये अमृत प्रवचन। पृष्ठ १४६, मूल्य २०/-

ज्योति कलश छलके : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जीवन-मूल्यो को ऊपर उठाने वाली एक प्यारी पुस्तक। भगवान् महावीर के सूत्रों पर प्रवचन। पृष्ठ १६०, मूल्य ३०/-

शिवोऽहम् : श्री चन्द्रप्रभ
जीवन की ऊँचाइयो को आत्मसात् करने के लिए एक तनाव-मुक्त स्वस्थ मार्ग-दर्शन। पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

तुम मुक्त हो, अतिमुक्त : श्री चन्द्रप्रभ
श्री चन्द्रप्रभ जी के छोटे-छोटे सूक्त वचनों का संकलन। पृष्ठ १००, मूल्य ७/-

रोम-रोम रस पीजे : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जीवन के हर कदम पर मार्ग दर्शाता चिन्तन-सूत्रों का दस्तावेज।
पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

ध्यान की जीवंत प्रक्रिया : सुश्री विजयलक्ष्मी जैन
ध्यान की सरल प्रक्रिया जानने के लिए बेहतरीन पुस्तक। ध्यान-शिविर का ब्यौरा।
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

व्यक्तित्व-विकास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
हमारा व्यक्तित्व ही हमारी पहचान है, तथ्य को उजागर करने वाला बाल-मनोवैज्ञानिक प्रकाशन। पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-

संभावनाओं से साक्षात्कार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
जीवन के विविध पहलुओं का स्पर्श करते हुए श्री चन्द्रप्रभजी के महत्त्वपूर्ण आलेख।
पृष्ठ ९२, मूल्य १०/-

बिना नयन की बात : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
अध्यात्म-पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र के प्रमुख पदों पर मानक प्रवचन।
पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

भगवत्ता फैली सब ओर : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
कुन्दकुन्द की गाथाओं पर मार्मिक उद्भावना। कम शब्दो में अधिक सामग्री।
पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

पर्युषण-प्रवचन : श्री चन्द्रप्रभ
पर्युषण-महापर्व के प्रवचनों को घर-घर तक पहुँचाने के लिए एक प्यारा प्रकाशन; भाषा सरल, प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक। पढ़ें कल्पसूत्र को अपनी भाषा में।
पृष्ठ १२०, मूल्य १७/-

जिन-सूत्र : श्री चन्द्रप्रभ
भगवान् महावीर की अमृत वाणी के नित्य पठन एवं प्रेरणा के लिए तैयार किया गया विशिष्ट संकलन, समणसुत्तं का संक्षिप्त, संशोधित रूप। पृष्ठ १८०, मूल्य १०/-

आत्मदर्शन की साधना : श्री चन्द्रप्रभ
आत्म-साधना के मार्ग को प्रशस्त करते विशिष्ट उद्बोधन। अष्टपाहुड़ के विशिष्ट सूत्रों पर नवीनतम विश्लेषण। पृष्ठ १६०, मूल्य १२/-

शिखरजी तीर्थ दर्शन : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जैन तीर्थ सम्मेत शिखरजी के इतिहास एव विकास का विस्तृत ब्यौरा।
पृष्ठ ४८, मूल्य ५/-

प्रेरणा : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
संसार में समाधि के फूल कैसे खिल सकते है, आध्यात्मिक सतों के जीवन से जुडे सच्चे घटनाक्रमों के द्वारा उसी का सहज विन्यास। पृष्ठ १००, मूल्य १५/-

सत्यम् शिवम् सुंदरम् : श्री चन्द्रप्रभ
श्री चन्द्रप्रभ के विशिष्ट जीवन-सूत्रों का सकलन। बाते छोटी, भाव गहरे।
पृष्ठ १६०, मूल्य ३०/-

जिन-शासन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
काव्य-शैली में जैनत्व को समग्रता से प्रस्तुत करने वाला एकमात्र सम्पूर्ण प्रयास।
पृष्ठ ८०, मूल्य ३/-

महान् जैन स्तोत्र : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
अत्यन्त प्रभावशाली एवं चमत्कारी जैन स्तोत्रो का विशाल सग्रह।
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

भोमिया भावांजली : प्रकाशकुमार दफ्तरी
अधिष्ठायक देव श्री भोमियाजी महाराज के लोकप्रिय भजनो का प्यारा-सा सकलन।
पृष्ठ ६४, मूल्य ७/-

ऐसी हो जीने की शैली : श्री चन्द्रप्रभ
जीवन और धर्म-पथ को पुनर्परिभाषित करते हुए जीने की साफ-स्वच्छ राह दिखाती पुस्तक। पृष्ठ १७६, मूल्य ३०/-

पंच प्रतिक्रमण सूत्र : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जैन धर्म परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण सूत्र का विधि सहित प्रकाशन। साथ ही सप्त-स्मरण, विविध स्तोत्र, रास एव स्तुति-पाठ। पृष्ठ २००, मूल्य २५/-

श्री अगरचन्द नाहटा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : शारदा गोस्वामी
प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के मूर्धन्य विद्वान श्री अगरचद नाहटा के जीवन-वृत्त एव कर्तृत्व पर लिखा गया शोध-प्रबन्ध। साथ ही श्री नाहटा के लिखे-छपे पॉच हजार से अधिक लेखो का सूची-पत्र। पृष्ठ ३००, मूल्य ५०/-

जीवन, जगत और अध्यात्म : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
जीवन-जगत की समस्याओं के समाधानो को ढूँढ़ने का प्रयास। सटीक प्रवचन।
पृष्ठ १८०, मूल्य ३०/-

संबोधि-ध्यान-मार्गदर्शिका : सुश्री विजयलक्ष्मी जैन
संबोधि-ध्यान-शिविर की प्रायोगिक मार्गदर्शिका; ध्यानयोग-विधि की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक।
पृष्ठ ५६, मूल्य ५/-

आँगन में आकाश : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
तीस प्रवचनों का अनूठा आध्यात्मिक संकलन, जो आम आदमी को प्रबुद्ध करता है और जोड़ता है उसे अस्तित्व की सत्यता से।
पृष्ठ २००, मूल्य ३०/-

जिनसूत्र : श्री चन्द्रप्रभ
भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का सार-संकलन।
पृष्ठ ८०, मूल्य ३/-

अन्तर के पट खोल : श्री चन्द्रप्रभ
ध्यान-साधकों को सत्य, शांति और आनंद की राह दिखाने वाली अभिनव पुस्तक।
पृष्ठ ९६, मूल्य १५/-

World Renowned Jain Pilgrimages : Reverence and Art :
Mahopadhyay Lalitprabh Sagar
Presents the Sculptural Art of Sixteen Jain Pilgrimages in its Artistic Excellence It is Artistically printed & multicoloured publication with coloured photographs.
Page 160, Price 300/-

रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर २०/- रुपये, न्यूनतम दो सौ रुपये का साहित्य मँगाने पर डाक-व्यय से मुक्त। धनराशि श्री जितयशाश्री फाउंडेशन (SRI JIT-YASHA SHREE FOUNDATION) कोलकाता के नाम पर बैंक-ड्राफ्ट या मनिआर्डर द्वारा भेजें। वी पी.पी. से साहित्य भेजना शक्य नहीं होगा। आज ही लिखें और अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें -

श्री जितयशा फाउंडेशन

९ सी-एस्प्लानेड रो ईस्ट
रूम नं. २८, धर्मतल्ला मार्केट
कोलकाता-७०० ०६९
फोन : २२०-८७२५

बी-७, अनुकम्पा द्वितीय
एम आई. रोड
जयपुर-३०२ ००१ (राज)
फोन : ३६४७३७